भाषासारसंग्रह

—:o:—

पहिला भाग

—:o:—

टेम्स नदी पर हिम का मेला*

इस देश के रहने वाले जहाँ गरमी अधिक और सरदी कम पड़ती है, इस बात पर, जो वर्णन की जाती है, विश्वास न करेंगे और कहेंगे कि क्या और देशों मे इतनी सरदी पड़ती है कि पानी जम कर पत्थर की चट्टान की नाईं हो जाता है ? इँगलिस्तान में प्रतिवर्ष बहता जल जम जाता है, परन्तु टेम्स नदी जो वहाँ की सब नदियों में बड़ी और प्रसिद्ध है और जिसके दोनों ओर लंडन नगरी बसी हुई है, उसका पानी कई बार जम कर मानो एक पत्थर की चट्टान सा हो गया। सन् १०९२, सन् १५६४ और फिर सन् १६८३ ईसवी मे वह ऐसी ही जम गई थी। तीसरी बार का वर्णन ईवलिन साहब ने यों लिखा है कि जैसा जाड़ा इस बार

* यह लेख शेरिङ्ग साहब लिखित भूचरित्रदर्पण से लिया गया है।

पड़ा है वैसा कई वर्षों से इँगलिस्तान मे नहीं पड़ा था । इस बार सम्पूर्ण टेम्स नदी का जल शीत की अधिकाई से जम कर ऐसा कड़ा हो गया था कि वह एक नगर के भार उठाने योग्य हो । जब लोगों ने ऐसा देखा तो तुरन्त उस पर आ बसे । गलियों के चिह्न हुए, दुकानें बस गई और उनमे उत्तम उत्तम वस्तुएं बिकने लगीं । उसकी गलियों मे लोग भांति भांति के यानों पर चढ़ कर घूमने लगे । एक स्थान पर लोगों ने आग सुलगा कर समूचे जन्तु का मांस पकाया । एक ओर स्थल के अद्भुत अद्भुत पशु-पक्षी दिखाई देते थे, जिन्हें लोग पहियेदार कुटघरों मे बन्द कर और उनसे घोड़े जोत कर ले जाते थे । एक ओर चायघर था जहाँ लोग बैठ कर चाय पीते थे । कहीं चर्खी थी जिस पर चढ़ कर लोग झूलते थे और एक ठौर बहुत सी नावें थीं जिनके छज्जे और मसतूल पर पाल और ध्वजायें लगी थीं । कभी उन्हें मल्लाह घोड़ों से और कभी रस्सा लगा कर आप ही बरफ़ के ऊपर खींचते थे ।

एक आश्चर्य्य की बात यह थी कि किसी ने एक मुद्रायन्त्र हिम पर खोला और एक कवि ने एक कविता रच कर उसमे छपवाई । उसका भावार्थ यह है—

चलो छापेखाने मे देखने वालो ।
कुटुम्बो का नाम और अपना छपा लो ॥
चतुर जन हैं सभी उसके कर्म्मचारी ।
मजूरी ले काम अपना करते सँवारी ॥

पर अचरज ये है छापते उस ठहर हैं।
जहां नित्य सब डूब कर जाते मर हैं॥

उस समय दूसरा चार्लस अपनी रानी, राजकुंअर और अनेक सेवकों के साथ मेले में आया और कुछ पारितोषिक देकर उसने अपना नाम उस यन्त्रालय में छपाया। एक पत्र जिस में राजा और सब सेवकों के नाम, वर्ष, महीने और तिथि-सहित छपे थे, अबलों वहां के अजायबघर मे रक्खा है और सबसे उत्तम वस्तु समझा जाता है।

सन् १७३९ ईसवी में फिर ऐसी ही दशा हुई और सन् १७८९ मे इतना पाला पड़ा कि नदी का जल अठारह फ़ीट मोटा जम गया। फिर उस पर मेला लगा, पर जब पाला पिघलने लगा तो लोग बड़ी आपदा मे पड़े। सब दूकानदार डर के मारे अपनी अपनी वस्तुओं को किनारे पर फेंकने लगे। नदी के ऊपर हिम मे दरारें फट गईं, इस लिए मल्लाहों ने उन पर पटरे बिछा दिये और जो लोग उन पर से जाते थे उनसे कुछ पैसे वे लेने लगे। पर जब भीड़ की भीड़ उन पटरों पर झुक पड़ी तो वे पैसे न ले सके और उन्होंने पटरों को उठा लिया। तब तो कौतुक देखने वाले दरारों पर कूदने लगे और कूदने के समय मनुष्यों की भीड़ के कारण बहुतेरे लोग पानी मे गिर पड़े।

उस समय के कौतुकों मे एक यह कौतुक था कि एक मनुष्य ने हिम के ऊपर एक डेरा खड़ा किया और उसके बाहर यह विज्ञापन लगाया था कि यह तम्बू भाड़े के लिए है, पर इसका

अधिकारी हिम साहब है और उसके काम का ठिकाना नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि थोड़े दिनों के पीछे उसके साझियों में फूट होगी और कोठी टूट जायगी। उस समय सब लेखा जोखा पिघलाहट साहब के हाथ में सौंपा जायगा।

सबसे अन्तिम मेला जो अब तक प्रसिद्ध है, सन् १८१४ ईसवी में हुआ था। इसके होने के पहले लंडन नगर पर ऐसा कुहरा पड़ा कि दिन रात के समान हो गया और ऐसा अन्धेरा हुआ कि लोगों ने घरों में दिये और सड़कों पर पलीते बाले। ऐसी अवस्था में एक धनी अपने घर से एक मित्र की भेट करने के लिये निकला। पर कई घण्टों तक वह भटकता फिरा और अन्त में अपने मित्र का घर न पाकर लौट आया। जब कुहरा दूर हुआ तो पाला पड़ने लगा और टेम्स नदी का जल जम गया। फिर मेला लगा और लोगो ने आग सुलगा कर मांस पकाया। पाले की ऐसी दशा केवल पांच दिन तक रही। ज्वार के वेग से नदी के ऊपर का पाला फट गया। उसकी एक चट्टान पर, जो अलग हो गई थी, एक डेरा था जिसमें नौ मनुष्य सोते थे। जब ज्वार के वेग से वह चट्टान डगमगाने लगी तो वे लोग चौंक पड़े और डर के मारे बलता हुआ दिया भीतर ही छोड़ कर भागे। अचानक डेरे मे आग लगी और सारा तम्बू भस्म हो गया। आग लगने के समय एक पटेला जो छूटा हुआ था उस चट्टान के पास आकर लग गया, इसी के द्वारा उन लोगों के प्राण बचें। प्रायः ऐसे विचित्र मेलों में बहुत से लोग जान बूझ कर अपने प्राण दे देते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*

श्रीमान् कविचूडामणि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् १८५० ई० के सितम्बर मास की ९ वी तारीख़ को बनारस में जन्म लिया था। जब वे पांच वर्ष के थे तो उनकी पूज्य माताजी और ९ वर्ष के हुए तो महामान्य पिता बाबू गोपालचन्द्रजी का स्वर्गवास हुआ, जिससे उनको माता-पिता का सुख बहुत ही कम देखने में आया। उनको शिक्षा बालकपन से दी गई थी और उन्होंने कई वर्ष लों बनारस कालेज मे अँगरेज़ो तथा हिन्दी पढ़ी थी। उस समय बनारस कालेज मे हिन्दी के अध्यापक पण्डित लोकनाथ चौबे थे। चौबेजी हिन्दी के बहुत अच्छे कवि थे। बाबू साहब की विलक्षण बुद्धि देख कर वे अपने इष्ट मित्रों से कहा करते थे कि यह बालक विशेष होनहार है। बाबू हरिश्चन्द्र ने संस्कृत, फ़ारसी, बँगला, मराठी आदि अनेक भाषाओं में अपने घर पर इतना परिश्रम किया था कि तैलङ्ग और तामिल भाषाओं को छोड़ कर वे भारतवर्ष की समस्त देश-भाषाओं को जानते थे। उनकी विद्वत्ता, बहुज्ञता, नीतिज्ञता, और विलक्षण बुद्धि का वृत्तान्त सब पर विदित है। कहने की कोई आवश्यकता नहीं। उनकी बुद्धि का चमत्कार देख कर लोगों को आश्चर्य्य होता था कि इतनी अल्प अवस्था में यह सर्वज्ञता! कविता की रुचि बाबू साहब को बालकपनही से थी। उनकी उस समय की कविताओं के पढ़ने से जब कि वे बहुत छोटे थे, बड़ा आश्चर्य्य होता है, तो फिर

* महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी द्वारा चन्द्रास्त से सङ्कलित।

पिछली का तो कहना ही क्या है ? वे हिन्दी के मूर्तिमान् आशु-कवि कालिदास थे इसमें कोई सन्देह नहीं। जैसी कविता इनकी सरस और प्रिय होती थी, वैसी आज दिन किसी कवि की नहीं होती। वे कविता सब भाषाओं की करते थे, पर हिन्दी भाषा की कविता में अद्वितीय थे। उनके जीवन का बहुमूल्य समय सदा लिखने पढ़ने में जाता था, और कोई समय ऐसा नहीं जाता था कि जब उनके पास लिखने पढ़ने की सामग्री न रहती हो। उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था मे कविवचनसुधा नामक पत्र निकाला था। इसके पीछे तो धीरे धीरे अनेक पत्र पत्रिकायें और सैकड़ों पुस्तके लिख डालीं जो युग युगान्तर तक संसार में उनका नाम जैसा का तैसा बनाये रक्खैंगी। २० वर्ष की अवस्था अर्थात् सन् १८७० ईसवीं मे, बाबू साहब आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए और सन् ७४ तक रहे, तथा उसी के लगभग ६ वर्ष लों वे म्यूनिसिपलकमिश्नर भी थे। साधारण लोगों मे विद्या फैलाने के लिए सन् १८६७ में जब कि उनकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी उन्होंने चौखम्भा-स्कूल जो अब तक उनकी कीर्ति की ध्वजा है, स्थापित किया। लोगों के संस्कार सुधारने तथा हिन्दी की उन्नति के लिए उन्होंने हिन्दी डिवेटिङ्गक्लब, अनाथरक्षिणी सभा, तदीयसमाज, काव्यसमाज आदि सभायें स्थापित कीं और वे स्वयं उसके सभापति रहे। भारतवर्ष के प्रायः सब प्रतिष्ठित समाज तथा सभाओ में से वे किसी के प्रेसीडेंट, किसी के सेक्रेटरी और किसी के मेम्बर थे। उन्होंने लोगों के उपकार के लिए अनेक बार देशदेशान्तरों में व्याख्यान भी दिये। उनकी वक्तृता सरल और

हृदयग्राहिणी होती थी। इनके लेख तथा वक्तृत्व में देश का अनुराग झलकता था। विद्या का सम्मान जैसा वे करते थे, वैसा करना आज कल के लोगों के लिए कठिन है। ऐसा कोई भी विद्वान् न होगा जिसने उनसे आदर-सत्कार न पाया हो। काशी के पण्डितो ने जो अपना हस्ताक्षर करके बाबू साहब को प्रशंसापत्र दिया था, उन लोगों ने स्पष्ट लिखा है कि—

"सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि स्वभाव दिन रैन के कारन नित हरिचन्द॥"

जब काशी में राजघाट पर गङ्गाजी के पुल बँधने में काम लग रहा था, उस समय एक दिन पंडित सुधाकर द्विवेदी को साथ लेकर वे कले देखने गये। लौटती समय पंडित जी ने यह दोहा पढ़ा—

"राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन की ढेरि।
आज गये कल देखि के आजहिँ लौटे फेरि॥"

इस पर प्रसन्न होकर उन्होंने उसी समय पंडित जी को सौ रुपये का नोट पारितोषिक दिया।

बाबू साहब दानियों मे मानों कर्ण थे बस इतना ही कहना बहुत है, क्योंकि उनसे सहस्रों मनुष्यों का कल्याण होता था। विद्या की उन्नति के लिए भी उन्होने बहुत कुछ व्यय किया। ५०० रु० तो उन्होंने पंडित परमानन्द जी को "बिहारी सतसई" की संस्कृत टीका रचने का दिया था और इसी प्रकार से वे कालेज और स्कूलों मे भी समय समय पर उचित पारितोषिक बाँटते थे। जब जब बङ्गाल, बम्बई और मदरास मे स्त्रियाँ परिक्षोत्तीर्ण हुईं, तब तब उन्होंने

उनके उत्साह बढ़ाने के लिए बनारसी साड़ियां भेजीं। वे गुणग्राहक भी एक ही थे, क्योंकि गुणियों के गुण से प्रसन्न होकर उनको यथेष्ट द्रव्य देते थे। तात्पर्य यह कि जहां तक बना उन्होंने दिया, और कभी देने से हाथ न रोका।

वे परम राजभक्त थे। जब प्रिंस आफ़ वेल्स आये थे तो उन्होंने अनेक भाषाओं के छंदों मे बना कर स्वागत ग्रन्थ उनके अर्पण किया था। ड्यूक आफ़ एडिनबरा जिस समय यहां पधारे थे, उस समय बाबू साहब ने उनके साथ ऐसी राजभक्ति प्रकट की कि, जिससे ड्यूक उन पर ऐसे प्रसन्न हुए कि जब तक वे काशी में रहे, उन्होंने बाबू साहब पर विशेष स्नेह रक्खा।

देशहितैषियों मे पहले उन्हीं के नाम पर उँगली पड़ती थी, क्योंकि वे ऐसे देशहितैषी थे कि उन्होंने अपने देश के गौरव को स्थापित रखने के लिए अपने धन, मान और प्रतिष्ठा को एक ओर रख दिया था और सदा वे उन सबके सुधारने का उपाय सोचते रहे। उनको अपने देशवासियों पर कितनी प्रीति थी यह बात उनके ग्रन्थों के पढ़ने से भली भांति विदित हो सकती है, क्योंकि उनके लेखों से उनकी देशहितैषिता और देश की सच्ची प्रीति झलकती है।

बाबू साहब अजातशत्रु थे, इसमे लेशमात्र संदेह नहीं है। और उनका शील ऐसा अपूर्व था कि साधारण लोगों की क्या कथा, भारतवर्ष के प्रधान राजे महाराजे, नव्वाब और शाहज़ादे भी उनसे मित्रता का बर्ताव करते थे। इसी प्रकार अमेरिका और योरप के सहृदय तथा प्रधान लोग भी उन पर पूरा स्नेह रखते थे।

हिन्दी के लिये तो बाबू साहब का मानो जन्म ही हुआ था। यह उन्हीं का काम था कि वे हिन्दी गद्य में एक नई जीवनी शक्ति का सञ्चार करके उसके लेखकों के पथदर्शक और उसके भण्डार की मूर्ति के प्रधान कारण हुए। हिन्दी-गद्य के जन्मदाता तो लल्लूलालजी हुए, परन्तु यह बाबू हरिश्चन्द्र का ही कार्य्य था कि उन्हों ने इसको नवीन रूप से अलङ्कृत कर इस भाषा का गौरव बढ़ाया। इसी कारण से आज दिन हिन्दी के पठित समाज में वे सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। उनके अनेक गुणों से सन्तुष्ट हो सन् १८८६ ई० में पण्डित रामशङ्कर व्यास के प्रस्ताव पर हिन्दी-समाचारपत्रों के सम्पादकों ने उन्हें 'भारतेन्दु' की पदवी दी थी।

बाबू साहब का धर्म वैष्णव था। वे धर्म मे पक्के थे, पर आडम्बर से दूर भागते थे। उनके सिद्धान्त मे परम धर्म भगवत्प्रेम था। वे मत वा धर्म को केवल विश्वासमूलक मानते थे, प्रमाणमूलक नहीं। सत्य, अहिंसा, दया, शील, नम्रता आदि चारित्र्य को भी वे धर्म मानते थे। वे प्रायः कहा करते थे, कि यदि मेरे पास बहुत सा धन होता तो मैं चार काम करता—(१) श्रीठाकुरजी को बग़ीचे मे पधरा कर धूम धाम से षट्ऋतु का मनोरथ करता; (२) इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका जाता; (३) अपने उद्योग से एक शुद्ध हिन्दी की युनिवर्सिटी स्थापित करता और (४) एक शिल्पकला का पश्चिमोत्तर प्रदेश में कालेज बनाता। परन्तु इन इच्छाओं में से वे एक भी पूरी न कर सके। उनके आमोद की वस्तुएं राग, वाद्य, रसिकसमागम, चित्र, देश देश और काल काल की विचित्र वस्तुएं

और भांति भांति की पुस्तकें थीं। काव्य उनको जयदेव, नागरीदास, सूरदास और आनन्दघन का अत्यन्त प्रिय था।

ये रुग्ण तो कई बेर हुए थे, पर भाग्य अच्छे थे इसलिए बराबर अच्छे होते गये। किन्तु सन् १८८२ ईसवी में जब श्रीमन्महाराणा उदयपुर से मिल कर जाडे के दिनों मे वे लौटे तो आते समय मार्ग में रोग ने उन्हें धर दबाया। बस, बनारस पहुँचने के साथ ही वे श्वास-रोग से पीड़ित हुए। रोग दिन दिन अधिक होता गया, परन्तु शरीर अन्त मे कुछ अच्छा हो गया था। यद्यपि देखने में कुछ दिनों तक रोग जान न पड़ा, पर भीतर ही भीतर वह बना रहा और जड़ से नहीं गया। सन् १८८४ के अन्त में फिर श्वास चलने लगा। कभी कभी ज्वर का आवेश भी हो आता। औषध बराबर होती रही, पर उससे कुछ लाभ न हुआ। श्वास अधिक हो चला और क्षयी के चिह्न देख पड़े। एकाएक २ जनवरी, सन् १८८५, से पीड़ा बढ़ने लगी। ६ वीं तारीख़ को प्रातःकाल जब दासी समाचार पूछने आई तो आपने कहा कि हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है, जिसके पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन शूल की और तीसरे दिन खांसी की तीन तो हो चुकीं, अब देखें लास्ट नाइट कब होती है। उसी दिन रोग इतना बढ़ा कि अन्त को रात के १० बजे श्रीकृष्ण, श्रीराम कहते कहते यह भारतेन्दु भारत के दुर्भाग्यरूपी मेघाच्छन्न गगन में विलीन हो गया और अपनी कौमुदीरूपी अक्षय कीर्ति का विकाश उस समय तक के लिए स्थिर रख गया कि जब लो भूमण्डल पर हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों का लोप न हो।

भूचाल का वर्णन*

प्राचीन समय के लोग भूचाल का कारण नहीं जानते थे और उस समय के लेखकों ने भी भूकम्प का और समुद्र के घटने बढ़ने तथा पृथ्वी के ऊँची नीची होने का कुछ वर्णन नहीं किया, परन्तु भूचाल से जो जो हानियां बस्ती को हुईं उन्हे लिखा है। जब से हुक साहब ने अपने विचार से भूकम्प के कारणों को प्रकट किया तब से लोगों को इसका ज्ञान हुआ।

सन् १६९२ ईसवी मे जमैका नाम के टापू में ऐसा भूकम्प हुआ कि धरती समुद्र की नाईं लहराने और हिलने लगी और कहीं कही यह ऐसी धधक उठी कि बड़े बड़े दरार इसमे फटे और फिर मिल गये। बहुतेरे लोग उन दरारों में गिर कर मर गये और बहुतेरे, जिसका आधा अङ्ग भीतर और आधा बाहर था, दब कर मर गये। बहुधा लोग ऐसे मरे कि उनका केवल सिर ही दिखाई देता था और बहुतेरे लोग दरार में पड़ कर भूचाल के झोकों से दूर जा पड़े। समुद्र के तीर बन्दरस्थान पर जितने जहाज़ और घर थे सब डूब गये। उनमे से कितने चौबीस और कई छत्तीस तथा अनेक अड़तालीस फ़ीट तक समुद्र मे धँस गये। परन्तु उन डूबे हुए घरों के कंगूरे और जहाज़ों के मस्तूल दिखाई देते थे। पोर्टरायल नगर के निकट धरती एकाएक धँस गई और वहाँ समुद्र बहने लगा। बहुत दिनों तक डूबे हुए घरों की छत

---

* यह लेख शेरिङ्ग साहब लिखित भूचरित्रदर्पण से लिया गया है।

पर एक जंगी जहाज़ चलता रहा, अन्त मे वह छत पर टिक गया जिसके बोझ से छत टूट गई और वह नीचे धँस गया। भूकम्प के सौ वर्ष पीछे लोग वहाँ गये और उन्होंने समुद्र के निर्मल जल मे डूबे हुए घरो को देखा। जमैका टापू की धरती भूकम्प से सहस्रों स्थान पर फट गई और एक ठौर, जहाँ आगे लोग बसते और खेती बारी होती थी, एक सरोवर बन गया और एक टुकड़ा धरती का अपने स्थान से आध मील की दूरी पर हट गया। अनेक बड़े बड़े पहाड़ धँस गये और उनसे नदियाँ निकलीं। ये नदियाँ आठ पहर तक बहने से रुक रहीं पर जब बहीं तो उनमें उखड़े हुए पेड़ बहते दिखाई पड़े।

सन् १६-६३ ईसवी में सिसली के टापू में कई बार भूकम्प आया। ग्यारहवीं जनवरी को कटेनिया नगर और उसके समीप के उनचास गाँव नष्ट हो गये और एक लाख मनुष्य मरे। नोटो नगर में एक सड़क धँस गई और उसके एक ओर के भवन झुक गये और तिरछे दिखाई देने लगे। पेरू देश मे सन् १७४६ ईसवी के आठ घन्टे के भीतर दो बार भूकम्प हुआ और समुद्र दो बार धरती पर चढ़ आया और फिर हट गया। इसीसे लीमा नगर नष्ट हो गया और समुद्र का तट बन्दरस्थान बन गया और चार बन्दरस्थानों* में बड़ा हलचल पड़ गया। बन्दर स्थान में सब तेईस जहाज़ लगे हुए थे। उनमें से उन्नीस डूब गये और चार जहाज़ जिनमे से एक सामरिक पोत था, लहरों के मारे धरती

* वे स्थान जहाँ जहाज़ लंगर डाल कर ठहरते हैं।

पर चढ़ आये। भूचाल के पहिले इस नगर में चार सहस्र लोग बसते थे, पर पीछे केवल दो सौ मनुष्य बचे और कोट (गढ़) के एक भाग को छोड़ कर नगर का कुछ भी पता न लगा।

सन् १७५१ ईसवी के मई महीने की चौबीसवीं तिथि को चिली देश का कन्सपशन नाम का प्राचीन नगर भूचाल से नष्ट हो गया और उस स्थान पर समुद्र बहने लगा। वहाँ के निवासी कहते हैं कि समुद्र के नीचे की धरती भूकम्प से चौबीस फ़ीट ऊँची हो गई। इसी कारण कन्सपशन बन्दरस्थान से दो मील की दूरी तक जहाज़ नहीं आ सकते। सन् १८२२ ईसवी में उसी देश में फिर भूचाल आया और बारह सौ मील उत्तर से दक्षिण तक उसकी धमक हुई। दूसरे दिन जान पड़ा कि वालपरेज़ों नगर के निकट की धरती ऊँची हो गई, क्योंकि लोग एक डूबे जहाज़ के समीप, जिसके पास पहिले डोंगी बिना पहुँच सकते थे, अब पाँव पाँव पहुँचने लगे; पर उस जहाज़ और धरती के बीच की दूरी जितनी आगे थी उतनीही बनी रही। कितने लोग समझते हैं कि आड़ीज़ पहाड़ से बहुत दूर तक समुद्र के नीचे की धरती ऊँची हो गई थी। सम्पूर्ण धरती जो ऊँची हो गई थी एक लाख मील वर्गात्मक अलग अलग थी। यदि यह बात सच हो तो गणित से जान पड़ता है कि जितनी धरती समुद्र से निकली वह सत्तावन मील घनात्मक के बराबर थी, अथवा उस पहाड़ के बराबर थी जिसकी ऊंचाई दो मील की और घेरा तेंतीस मील का हो। चिली देश के कन्सपशन नामक बन्दरस्थान में सन् १८३५ ईसवी में ऐसा भारी भूचाल आया जिसकी धमक से कन्स-

पशन, टलकह्वोवानो और चिल्लाने की बस्ती और कई एक गाँव नष्ट हो गये। इसके पीछे इस बन्दरस्थान मे समुद्र का पानी घट गया, जहाज़ धरती पर टिक गये और उसी समय जवान् फर्नानडेज़ नामक एक टापू मे, जो चिली से तीन सौ पैंसठ मील की दूरी पर था, बड़े वेग से भूकम्प हुआ और उसी टापू के निकट एक ज्वालामुखी पर्वत प्रकट हुआ जिससे सम्पूर्ण टापू में प्रकाश हो गया। सन् १८३७ ईसवी के नवम्बर महीने मे चिली देश मे फिर भूडोल हुआ और उससे बलडोया नगर नष्ट हो गया और उसकी धमक से एक जहाज़ समुद्र मे ऐसा हिला कि उसका मस्तूल टूट कर गिर पड़ा। जब दिसम्बर महीने की ग्यारहवीं तिथि को यह जहाज़ उस स्थान पर पहुँचा जहाँ दो वर्ष पहले लंगर पर टिका था, तो उसके कप्तान ने इस बात को जाना कि पहिले की अपेक्षा इस स्थान की गहराई आठ फ़ीट कम हो गई है, और कितनी चट्टानें जो पहिले समुद्र के नीचे थीं अब ऊपर निकल आई हैं। सडी हुई सीपियाँ और मछलियाँ जो समुद्र की लहरों से सूखे मे आ गई थी, दिखाई दीं और समुद्र के किनारे पर बहुत दूर तक जड़ से उखड़े हुए पेड़ देख पड़े।

सन् १७५५ ईसवी के नवम्बर महीने की पहिली तारीख़ को पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन नगर मे ऐसे वेग का भूडोल हुआ कि जैसा वर्तमान काल मे कहीं देखने मे नहीं आया। धरती के नीचे से एकाएक गड़गड़ाहट का शब्द सुनाई दिया और नगर के एक भाग को छोड़ कर सब का सब नष्ट हो गया। इस दुर्घटना के कारण ६ मिनट मे साठ सहस्र मनुष्य मरे। पहिले तो समुद्र

पीछे हट गया और बन्दरस्थान सूख गया, और फिर इतना बढ़ा कि नियत स्थान से पचास फ़ीट ऊँचा हो गया। कई एक बड़े बड़े पर्वत ऊपर से नीचे तक हिल उठे। इस भूकम्प की धमक बड़ी दूर तक पहुँची थी। हम्बोल्ट साहब ने अनुमान किया है कि पृथ्वी का वह तल जो योरप से चौगुना है इस भूचाल से हिला। इस भूकम्प की धमक वेस्टइनडीज़ तक पहुँची और समुद्र का हलरा, जो किनारे पर दो फ़ीट से अधिक नहीं चढ़ता था; तीस तीस फ़ीट तक चढ़ गया, तथा समुद्र का जल काला हो गया और कनेड़ा देश की झील तक उसकी धमक पहुँची और अफ़्रिका के उत्तर अलजीयर्स और फ़ेज़ देशों की धरती बड़े वेग से हिली। मोराको चौबीस मील की दूरी पर एक गाँव था जो आठ दस सहस्र मनुष्यों के साथ पृथ्वी में धँस गया और फिर भूमि एक सी हो गई, मानो पहिले वहाँ कोई गाँव था ही नहीं। इस आपत्ति के पहिले लिसबन नगर में समुद्र के तीर पर लोगों के चलने के लिए संगमरमर की एक भीत थी। जब भूचाल से लोगों के घर गिरने लगे तो वहाँ जाकर लोगों ने शरण ली। इस भीत के निकट मनुष्यो से भरी हुई बहुतेरी नावे भी थीं। अचानक सब लोग और नावे पानी मे डूब गईं और फिर किसी का कुछ भी पता न लगा।

एक जहाज़ लिसबन नगर के पश्चिम ओर वाले समुद्र मे था। जब भूचाल आया तो वह ऐसा हिला कि उसके कप्तान ने समझा कि वह धरती पर टिक गया। तथा एक और जहाज़ ऐसे वेग से हिला कि उस पर के मल्लाहों के पांव डेढ़ डेढ़ फ़ीट तक उस पर से उठ

गये। इँगलिस्तान के पोखरों, नदियों और झीलों में भी अद्भुत रीति की गति हुई। गणित से जान पड़ता है कि यह भूकम्प एक मिनट में बीस मील आगे बढ़ता था। स्पेन देश के तट पर समुद्र का पानी साठ फ़ीट तक ऊपर चढ़ आया और टंजीर्स स्थान में समुद्र आठ बार चढ़ा। बड़े आश्चर्य की बात है कि भूकम्प के आरम्भ में तो समुद्र घट गया था, पर पीछे से फिर बड़े वेग से चढ़ आया। एक साहब अनुमान करते हैं कि समुद्र के नीचे की धरती में बाष्प के इकट्ठे होने से धरती खोखली होकर धँस जाती है और ज्वाला प्रकट होने लगती है। दूसरे साहब दूसरी रीति से अनुमान करते हैं कि ऊँचे होने के कारण समुद्र एक ओर हट जाता है और धरती धँस जाती है, तब समुद्र का पानी फिर बड़े वेग से बढ़ आता है, तीसरे साहब यों कहते हैं कि जब समुद्र के नीचे की धरती ऊँची हो जाती है तब पानी अपनी स्वाभाविक रीति पर नीचे की ओर बहता है और उसकी लहरें किनारे तक पहुँचती हैं, इसके पीछे पानी अपने स्थान पर आजाता है। डरोन साहब की समझ में यह बात आई कि जैसे धुआँकश जहाज़ के चलने से लहरों पर उनका वेग पहुँचता है और पहिले किनारे से पानी हट जाता और फिर उस ओर बढ़ आता है, वैसे ही भूचाल से पहिले समुद्र का जल हट जाता और पीछे बढ़ आता है।

सन् १७६२ ईसवी में बंगाल देश के चटगाँव प्रदेश में भूडोल आया, जिससे सारा देश हिल गया और कहीं कहीं धरती से ज्वाला निकलने लगी और उसके साथ पानी तथा कीचड़ फुहाड़े की नाईं

पृथ्वी में से निकले। बर्दवान में एक नदी सूख गई और बरचरा स्थान की धरती, जो समुद्र के किनारे पर है, धँस गई और उसमें दो सौ मनुष्य और बहुत से पशु नष्ट हुए। मग नाम की पर्वत-श्रेणी वाला ससलोगतूम नामक पहाड़ धँस गया और एक पहाड़ ऐसा धँसा कि उसकी चोटी छोड़ कर और कुछ दिखाई नहीं देता था। कई गांव उसके नीचे हो गये। इस कारण उनके ऊपर से पानी बह चला और दो पहाड़ों से ज्वाला प्रगट हुई। इस भूचाल की धमक कलकत्ते तक पहुँची थी।

सन् १७८३ ई० मे कलाब्रिया देश से एक नये प्रकार का भूकम्प हुआ। यह इसी वर्ष के फ़रवरी महीने में आरम्भ हुआ और चार वर्ष अर्थात् सन् १७८६ ई० तक इसकी धमक आती रही। नेपल्स देश के राजा के विश्रोपजियो नामक डाक्तर ने इस भूचाल का वृत्तान्त लिख कर अपने राजा के पास भिजवा दिया था। फिर उसी राजा की आज्ञा से उसके प्रधान मन्त्री ने भी वहां जा कर और भूचाल का सम्पूर्ण वृत्तान्त लिख कर राजा के पास भेजा था। एक और डाक्तर ने भी जो वहीं रहता था, इस भूडोल के प्रतिदिन का वृत्तान्त लिखा है। उसके गणित से जान पड़ता है कि पहले वर्ष मे नौ सौ उनचास बार भूकम्प हुआ, उनमे से पाँच सौ एक बार सबसे अधिक वेग का था। दूसरे वर्ष मे एक सौ एक बार भूचाल आया। इन लोगों को छोड़ कर और भी बहुत से लोग हैं जिन्होंने इस भूकम्प का वर्णन लिखा है। कितने चित्रकारों ने भी जहां जहाँ ज्वाला प्रगट हुई उनके चित्र खींचे हैं। यह भूचाल

नेपल्स के उत्तर से सिसली टापू तक पहुँचा था, परन्तु जिस स्थान पर बड़े वेग से भूकम्प हुआ, वह धरती पांच सौ मील वर्गात्मक अलग अलग थी। पहिला भूकम्प फ़रवरी महीने की पाँचवीं तिथि को आया था, जिससे दो मिनट में कई एक घरों को छोड़ कर जितने नगर और गांव थे सबके सब नष्ट हो गये। उसी वर्ष के मार्च महीने की अट्ठाइसवीं तिथि को एक और भूकम्प आया जो बल में पहले के बराबर था। भूचाल, पत्थर के अधिक कठोर होने के कारण ठीक एक सरल रेखा में चलता है, पर जब कठोरता कम होती है तब इधर उधर भी फैलता है। जब इस देश में भूचाल होता था उस समय धरती समुद्र की लहरों के समान लहराती थी, और प्रत्येक भूकम्प के पहले बादल ठहरे हुए दिखाई देते थे; और वृक्ष इतने झुक गये थे कि डालियाँ धरती पर लग गईं थीं। जान पड़ता है कि कहीं कहीं भूचाल की गति वृत्ताकार थी, क्योंकि दो लाटों पर के पत्थर जो एक घर पर बनी थीं घूम गये, परन्तु हरोग साहब का अनुमान है कि भूचाल की गति वृत्त में नहीं वरन् लहर की नाईं होती है। ग्रीमाल्डी साहब कहते हैं कि सिसली के मेसीना नगर के निकट की धरती में, जो समुद्र के तीर पर है, ज्वाला प्रगट हुई और तट की भूमि जो पहले चौरस थी समुद्र की ओर झुक गई। और एक गांव में के घर कुछ तो ऊँचे हो गये और कुछ जो उन्हीं के पास थे धँस गये और कई एक स्थानों में की सड़कें, जिनके दोनों ओर भवन थे, ऊँची हो गईं, पर भवन ज्यों के त्यों अपने स्थान पर बने रहे। एक स्थान पर एक शिखर था, उसका एक भाग

झुक गया और दूसरा भाग जैसा था वैसा ही बना रहा। एक स्थान पर एक पक्का कुआं था उसके चारों ओर की धरती धँस गई और कुआं इस लिए कि वह पत्थरों से बना हुआ था, अपनी जगह पर शिखर की नाईं खड़ा रहा। धरती के फटने से जो गति होती है वह भूमि के ऊपर देख पड़ती है। बारम्बार ऐसा हुआ है कि जब धरती फट गई है तब मनुष्य उसकी दरारों मे गिर पड़े और फिर जीते हुए पानी के फुहारों के साथ बिना परिश्रम ऊपर निकल आये हैं। ज्वाला निकलने से धरती ऐसी फट जाती है कि जैसे शीशा तोड़ने से चूर चूर हो जाता है। एक पर्वत की तराई मे भूकम्प के समय एक बड़ी दरार फट पड़ी जिसमें बहुत मिट्टी और वृक्षादि गिरे तिस पर भी भूचाल के पीछे वह पांच सौ फ़ीट लम्बी और दो सौ फ़ीट गहरी रह गई। एक स्थान में और एक दरार फटी जिसकी लम्बाई एक मील के लगभग और चौड़ाई एक सौ पांच फ़ीट और गहराई तीस फ़ीट थी। इस भूचाल की धमक से एक पहाड़ आध मील तक फट गया था।

समीनारा स्थान पर एकाएक सत्रह सौ पचास फ़ीट लम्बा, नौ सौ सैंतीस फ़ीट चौड़ा और बावन फ़ीट गहरा एक सरोवर बन गया। वहां के निवासी इस सरोवर के पानी को हानिकारक समझ कर, चाहते थे कि एक नहर खोद कर उसके जल को बाहर निकाल दें और इसी विचार से उन्होंने बहुत कुछ व्यय करके एक नहर बनवाई भी, पर उसका पानी न निकल सका, क्योंकि जितना जल नहर से बहता था उतना ही उसके सोते से निकल आता था।

भूचाल के समय धरती ऊपर को उठ जाती है। इसका एक प्रमाण यह है कि जो जो वस्तुएँ धरती के ऊपर रहती हैं वे भी उसके साथ उठतीं और जब गिरती तो उलटी गिरती हैं। एक नदी बहुत दिन तक गुम रही और पीछे अपने स्थान से हट कर फिर बहने लगी। एक स्थान पर एक बग़ीचा था जिसमे एक भवन और बहुतेरे वृक्ष थे। वे सब वृक्ष अपने स्थान से हट कर दो सौ फ़ीट नीचे ज्यों के त्यों जा लगे, पर भवन और उसके रहने वाले अपनी जगह पर जैसे के तैसे बने रहे। उस वर्ष बग़ीचे मे फल अधिकता से लगे। अब तक इस बात का पता लगा हैं कि सब भूचालों से पचास बड़े बड़े और दो सौ पन्द्रह छोटे छोटे सरोवर बन गये हैं।

इस भूचाल के भय से सिसली देश के राजा ने अपनी प्रजा को यह आज्ञा दी कि छोटी छोटी नावों पर समुद्र मे रहा करो। लोगों ने आज्ञा का पालन किया और उसी वर्ष के फ़रवरी महीने की पांचवीं तिथि को सन्ध्या के समय बहुत से लोग तो नावों पर थे और बहुत से समुद्र के तट पर सोते थे। अचानक धरती हिलने लगी और जैसे नामक पहाड़ फट गया और उससे एक बड़ी भारी चट्टान चटक कर तट पर गिरी, तथा समुद्र तुरन्त बीस फ़ीट ऊँचा हो अपने स्थान से तट पर चढ़ आया; जिससे जितने मनुष्य वहाँ थे सब के सब बह गये। तट पर की कितनी नावें तो डूब गईं और कितनी तट से टकरा कर चकनाचूर हो गईं और राजा चौदह सौ मनुष्यों के साथ नष्ट हो गया।

कलाब्रिया और सिसली देश मे उस भूचाल की धमक से

बहुतेरे लोग घरों के नीचे दब गये, बहुतेरे अपने अपने घरों की अग्नि के प्रचण्ड होने से जल गये और बहुतेरे धरती की दरारों मे गिर कर मर गये। इस दुर्घटना मे चालीस सहस्र मनुष्य उन रोगो से मरे जिनकी उत्पत्ति उस भूचाल से हुई थी।

सन् १८११ ईसवी में उत्तर अमेरिका के दक्षिणी भाग में केरोलिना स्थान के दक्षिण एक ऐसा भूकम्प हुआ कि निउमडरिड गांव से उड़ोओ नदी के एक सिरे से लेकर फ्रांसिस नदी के दूसरी ओर की धरती ऐसी हिली कि बहुतेरे नये नये द्वीप और सरोवर बन गये। यह देखा गया है कि बहुधा ज्वालामुखी पर्वत के निकट के स्थानों मे भूकम्प होता है, पर इस भूकम्प के निकट कोई भी ज्वालामुखी पर्वत न था। फ़लिंट साहब लिखते हैं कि एक स्थान पर बड़ा भारी सरोवर बन गया और जब वह सूख गया तो उसमें बालू दिखाई देने लगा और फिर एक घण्टे के पीछे बीस बीस मील के लम्बे कई एक सरोवर देख पड़े, तथा कई एक बड़े बड़े सरोवर जो पहिले जल से भरे हुए थे सूख गये। निउ-मडरिड का समाधिस्थान अपने स्थान से हट कर मिसीसिपा नदी मे जा रहा, और गांव की धरती और नदी का तट पन्द्रह मील तक अठारह फ़ीट नीचे धँस गया और जङ्गल के वृक्षादि टूटे हुए देख पड़े। उस स्थान के निवासी कहते हैं कि जब धरती बहुत हिली और समुद्र की नाईं लहराने लगी, तब वह फट गई और उसकी दरार से पानी, बालू और कोयले निकले। सन् १८८२ ई० में करकस नगर मे भूकम्प हुआ। उस समय धरती

खौलते हुए पानी की नाईं हिलने लगी और उसके नीचे से भयानक शब्द सुनने में आया। सारा नगर बात की बात में नष्ट हो गया और दस सहस्र मनुष्य दब कर मर गये। पहाड़ों से बड़ी चट्टानें अलग हो गईं। सिला नाम का एक पहाड़ पहिले की अपेक्षा तीन चार सौ फ़ीट नीचा हो गया और एक स्थान पर धरती फट गई, वहां से बहुत सा पानी निकला।

सन् १८१५ ईसवी में खंबावा टापू में जो जावा टापू से दो सौ मील पर है, भयानक भूकम्प आया। इसके पहले वहां एक ज्वालामुखी पर्वत था। यह भूचाल पाँचवी अप्रैल को प्रारम्भ हुआ और जुलाई के महीने तक रहा। उसकी गड़गड़ाहट सुमात्रा टापू तक, जो वहां से नौ सौ सत्तर मील दूर था, पहुँचती थी। इस टापू के टम्बोरो सूबे में पहिले बारह सहस्र मनुष्य रहते थे, पर भूचाल के पीछे केवल २६ मनुष्य वहां शेष रह गये। कई स्थानों पर धरती से लावा* निकला और ज्वालामुखी से राख और मिट्टी निकल कर पहाड़ के एक ओर चालीस मील और दूसरी ओर तीन सौ मील तक गिरी, जिससे आकाश में ऐसा अन्धकार हुआ कि वैसा अँधेरी रात मे भी नहीं होता है। यह राख और मिट्टी जहां कहीं समुद्र में गिरी; वहां जहाज़ का चलन बन्द हो गया। टम्बोरो स्थान में समुद्र बहने लगा और भूकम्प के पीछे भी समुद्र अपने स्थान से अठारह फ़ीट बढ़ा ही रहा।

---

* एक प्रकार का द्रव पदार्थ जो ज्वालामुखी पहाड़ से निकलता है।

सन् १८१९ ईसवी में कच्छ देश में ऐसा भूडोल आया कि भुज नाम का प्रधान नगर संपूर्ण नष्ट हो गया। इस भूकम्प की धमक अहमदाबाद तक पहुँची थी और वहाँ की एक बड़ी मसजिद, जिसे सुलतान अहमद ने साढ़े चार सौ वर्ष पहिले बनवाई थी, गिर पड़ी। धनजर का कोट शिखर सहित बड़े वेग से बैठ गया। पहिले सिन्ध नदी की सीमा पर जब लहरा वेग से उठता था, तब जल छः फ़ीट तक चढ़ता था, पर भूचाल होने के पीछे अठारह फ़ीट तक जल चढ़ा। सुन्दरी कोट और गाँवों पर जो लखपतगढ़ से उत्तर थे, समुद्र चढ़ आया। भूडोल के बीत जाने पर भवनों की छतें और भीतों के कंगूरे दिखाई पड़ते थे। ऐसा जान पड़ता है कि भूचाल के कारण सिन्धु नदी की पूर्वी सीमा में समुद्र सूखे पर इतना चढ़ आया कि दो सहस्र वर्गात्मक मील धरती डूब गई। यद्यपि यह भूकम्प भयानक हुआ और समुद्र भी चढ़ आया, पर कोट का एक शिखर ज्यों का त्यों बना रहा। कोट के रहने वाले मनुष्यों ने इसी शिखर पर शरण ली और दूसरे दिन नावों पर चढ़ कर अपने प्राण बचाये। भूकम्प के पीछे सुन्दरी गाँव के रहने वाले लोगों ने साढ़े पाँच मील की दूरी पर एक स्थान में जहाँ पहिले चौरस धरती थी, एक लम्बा सा टीला पाया और उसका नाम अल्लहबन्ध 'रक्खा। यह टीला सुन्दरी गाँव की धँसी हुई धरती के सम्मुख पचास मील लम्बा और कहीं कहीं सोलह मील चौड़ा है। सन् १८२८ ईसवी में बर्न्स साहब नाव पर चढ़ कर सुन्दरी गाँव के खंडहर को देखने गये थे, उन्होंने वहाँ केवल एक शिखर और टूटी हुई भीतों को जो दो तीन

फ़ोट पानी के ऊपर थी, देखा और जब भीत पर खड़े होकर चारों ओर देखा तो अल्लहबन्ध नाम की धरती के टुकड़े को छोड़ कर सब जलमय दिखलाई पड़ा।

राबिनसन क्रूसो का इतिहास।

मेरा नाम राबिनसन क्रूसो है। सन् १६३२ ई० मे यार्क नगर में मेरा जन्म हुआ, मेरा पिता एक अच्छे कुल का था। पहिले वह हल नगर मे रहा। वहाँ व्यापार से धनवान् हुआ। फिर वहाँ का व्यापार छोड़ कर यार्क नगर में आया और वहाँ उसने राबिनसन नाम की एक कुलवती स्त्री से विवाह किया। उससे तीन पुत्र हुए। बड़ा लडका अँगरेज़ी सेना का सेनापति हुआ और स्पेन देश के लोगों की लड़ाई मे मारा गया। मैं नहीं जानता कि मझला लड़का कहाँ चला गया और उसने क्या काम किया।

मैं अपने पिता का सबसे छोटा पुत्र हूँ। बालकपन मेरा लाड़ में बीता, इसीसे मैंने कोई काम करना न सीखा। पर युवा अवस्था में मुझे विदेश जाने की बड़ी इच्छा हुई। मैं पाठशाला मे कभी नहीं गया, पर सामान्य लड़कों की नाईं मेरे पिता ने मुझे घर ही पर पढ़ना लिखना सिखाया। पिता की इच्छा थी कि मैं वकालत का काम करूँ, पर मेरी अभिलाषा थी कि मैं किसी जहाज़ का मुखिया होकर विदेश जाऊँ। मेरे माता-पिता और मित्र आदिकों ने बहुत निषेध किया, परन्तु मेरी विदेश जाने की इच्छा ऐसी प्रबल हुई कि

मैंने किसी की बात न मानी। इसी दुर्भाग्य से मेरे ऊपर बड़ी बड़ी आपदायें पड़ीं।

मेरा पिता बड़ा गम्भीर और बुद्धिमान था उसने मेरा अभिप्राय जान बहुत सी शिक्षा की बाते मुझसे कहीं। जब पिता वातरोग से अत्यन्त निर्बल हो गया, तब एक दिन उसने मुझे पास बुला विदेश जाने का प्रसङ्ग चला कर बड़ी उग्रता से कहा कि तुम माता, पिता और अपने देश का सुख छोड़ विदेश जाने की इच्छा क्यों करते हो? विदेश जाने पर तुमको केवल घूमने के और कुछ फल न मिलेगा। और यदि तुम अपने देश में रहोगे तो यहाँ के लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। जो तुम मन लगा कर परिश्रम करोगे तो तुम यहाँ ही बहुत सा धन उपार्जन करोगे और उससे स्वतंत्रतापूर्वक सुख से तुम्हारा दिन बीतेगा। सुनो दो प्रकार के मनुष्य विदेश जाते हैं। एक दरिद्री जो किसी प्रकार अपने दिन नहीं काट सकते। और दूसरे ऐसे धनवान जो कि साहसी कर्म से लोगों में प्रसिद्ध होने की इच्छा रखते हैं। तुम न तो वैसे दरिद्री ही हो और न धनवान्, बरन् मध्यम श्रेणी के हो। मैंने बहुत काल से इस बात की परीक्षा की है और भली भांति विचार कर देखा है कि पुरुष की मध्यम अवस्था उत्तम होती है, और इसका सुख भी विलक्षण है। इसमें न तो नीचों की भांति क्लेश और परिश्रम करना पड़ता है, और न धनवानों के समान अहङ्कार, सुख की अभिलाषा और ईर्ष्या होती है। इसीसे मध्यम वृत्ति बहुत उत्तम है और सब जाति के मनुष्य इसकी इच्छा करते हैं। एक राजकुमार जन्म भर उत्तम २ पदार्थों का

भोग करता है, परन्तु जब उसके ऊपर किसी प्रकार का दुःख पड़ता है तो उस समय वह उदास हो यही कहता है कि हाय, यदि मैं मध्यम श्रेणी का पुरुष होता तो बहुत अच्छा होता। एक पण्डित ने भी परमेश्वर से यही प्रार्थना की थी कि हे परमेश्वर, तू मुझे न तो दरिद्री बनाइयो और न धनवान, वरन् मध्यम दशा में रखियो।

इतना कह फिर पिता ने मुझसे कहा कि तुम भली भांति विचार कर देखो कि इस संसार मे अधिक दुःख के भागी या तो धनवान् हैं या दरिद्री, किन्तु मध्यम श्रेणी का पुरुष अधिक दुःख का भागी नहीं होता। क्योंकि धनी लोग प्रायः थोड़े दिनों में दरिद्री हो जाते हैं और दरिद्री सदा दुखी रहते हैं। धनी लोग अपने बड़े बड़े मनोरथ पूरे करने में अनेक प्रकार के क्लेश सह कर रोगी हो जाते हैं और दरिद्री लोग अपने अत्यन्त परिश्रम द्वारा भी अति आवश्यक पदार्थ और साधारण भोजन न पाकर क्लेश वा रोगादि से पीड़ित होते हैं। पर मध्यम श्रेणी के पुरुष की ऐसी दशा कभी नहीं होती। इसे अच्छे अच्छे गुण, सब प्रकार के सुख और सत्सङ्ग मिल जाते हैं। सुनो, परिमित व्यय, आनन्द, स्वस्थता, सत्सङ्ग और इच्छानुसार सुख मध्यम दशा ही में मिलते हैं। मध्यम दशा वाला सहज में काल बिता कर स्वतंत्र हो इस भवसागर से पार हो जाता है। इसको दरिद्री वा धनवान् की भांति शरीर व चित्त के क्लेशादिकों का दुःख नहीं व्यापता, क्योंकि न तो इसे प्रति दिन उचित आहार के न पाने की आशङ्का से दास वा नीच, की भांति कर्म करना पड़ता है, न नाना प्रकार के कठिन मनोरथो के

पूर्ण न होने से उदास रहना पड़ता है, और न महत वस्तु की लोभाग्नि में जलना ही पड़ता है। इसीसे यह अपने चित्त में शांति और विश्राम को पाता है, तथा इस सांसारिक वन में कड़ुए फलों को त्याग और मधुर फलों का ग्रहण कर इस जीवनरूपी वृक्ष की छाया में निवास पाता है, और स्थिरचित से अपने सुख का ध्यान करता हुआ प्रतिदिन अपनी वृद्धि करता है।

इतना कह कर मेरे पिता ने फिर स्नेहपूर्वक यह कहा कि तुम चञ्चलता मत करो। तुम्हारी अवस्था से मुझे तुम्हारा स्वाभाविक गुण जान पड़ता है कि भविष्यत में तुमको किसी प्रकार का दुःख न होगा। इस लिए तुम जान बूझ कर आप से दुःखसागर में कूद कर मत डूबो। धीरज धरो और देखो, मैं तुम्हारे लिए वही करूँगा जिससे तुम्हारा कल्याण होगा। जिस मध्यम अवस्था की मैंने तुमसे इतनी प्रशंसा की है, तुम उसी अवस्था के योग्य हो जाओगे। इस पर भी जो तुम सुख से अपना काल न काटो तो तुम्हारा अभाग्य है। सार यह है कि जिस बात से तुमको दुःख होगा उससे मैं तुमको सावधान किये देता हूँ। अब मेरा कुछ दोष नहीं है। बस, बहुत कहने से कुछ लाभ नहीं। सुनो; जो तुम यहाँ रह कर मेरी इच्छा के अनुसार काम करोगे तो सब प्रकार से तुम्हारा कल्याण होगा और जो तुम मेरी बात न मान कर कहीं चले जाओगे तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी। इसी से मैं तुमको विदेश जाने की सम्मति नहीं देता। पर यदि तुम चलेही जाओगे तो परमेश्वर से तुम्हारे कल्याण के निमित्त प्रार्थना करता रहूँगा। देखो, जैसे तुम विदेश जाने का

हठ करते हो, इसी रीति से तुम्हारे बड़े भाई ने भी रण-चातुरी सीखने के लिए बड़ा हठ किया था। मैंने उसको भी बहुत समझाया था, पर उसने मेरी बात न मानी और अन्त को उसी काम से वह मारा गया। तुम निश्चय जानो कि जो तुम मेरी बात न मान विदेश जाओगे तो ईश्वर कभी तुम्हारा भला न करेगा और जिस समय तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति आवेगी, उस समय कोई भी तुम्हारा सहायक न होगा, तब तुम्हे मेरी बातों का स्मरण होगा और तुम पछताओगे कि हाय, मैंने अपने पिता की बात क्यों न मानी।

पिता ने ये सब बाते भविष्यवक्ता के समान कहीं, और उन को यह निश्चय नहीं था कि मैं बात ही बात मे विदेश चला ही जाऊँगा। ऐसी बातें करते करते मेरे पिता की आँखों से आंसू बहने लगे, गद्गद् वाणी हो गई और बड़े स्नेह से उन्होने कहा कि हाय, मैं अपने चित्त के दुःख का वर्णन नहीं कर सकता, पर यह कहता हूँ कि जिस समय तुम पर कोई दुःख पड़ेगा और तुम्हें कोई सहायक न मिलेगा, उस समय तुम्हे बड़ा शोक होगा।

इन बातों को सुन कर मेरी भी छाती भर आई, क्योंकि स्नेह की ऐसी बातों से किसकी छाती नही भरती? तब मैंने भी अपने मन में यही निश्चय किया कि अब जलयात्रा का विचार छोड़ अपने पिता की आज्ञा मान कर स्वदेश ही में रहना उचित है। किन्तु थोड़े ही काल में फिर मेरी दुर्बुद्धि लौटी और मैंने यह विचार किया कि अब पिता से कुछ न कहना और इनसे बिना कहे ही चले जाना ठीक है, जिसमे पिता मुझको रोक न सकें।

ऐसा विचार कर मैं पिता के पास तो न गया, पर एक दिन मैंने अपनी माता को प्रसन्न देख कर कहा कि माता! मुझको नाना प्रकार के देशों के देखने की बड़ी इच्छा है। इस देश मे मैं कुछ काम नहीं कर सकता। और जो मैं कुछ काम भी करूँगा तो मेरा चित्त भली भाँति न लगेगा। जो मैं पिता से आज्ञा लेकर जाऊं तो मेरा कल्याण हो, पर वे मुझे न जाने क्यों नहीं आज्ञा देते? मेरी अठारह वर्ष की अवस्था हुई। अब मैं व्यापार या वकालत का काम नहीं सीख सकता। यदि वे मुझको सिखावेंगे भी तो मैं उतने काल तक ठहर नहीं सकूँगा। इससे यही उचित है कि वे मुझको विदेश जाने की आज्ञा दे। जो मेरा मन विदेश में न लगेगा तो मैं यहाँ आकर अपना काम सीखूँगा और जो मेरा समय विदेश जाने से जायगा, उसकी कसर मैं यहाँ आकर निकाल दूँगा।

यह सुन माता ने क्रोध से कहा कि तुम्हारे पिता से इस बात के कहने की कुछ आवश्यकता नही है। क्योंकि वे तुम्हारी हानि के साथी नही, वरन् तुम्हारे लाभ के साथी हैं। वे जिसमे तुम्हारी भलाई होगी वही करेगे, पर तुम्हारी हानि के विषय में कभी आज्ञा न देगे। अभी इस बात को बहुत दिन नहीं हुए कि उन्होंने विदेश जाने के विषय में तुमसे क्या क्या बातें कही थीं। क्या तुम उन बातों को अभी भूल गये जो फिर विदेश जाने की इच्छा करते हो? जो तुम आपही अपने को नाश करने की इच्छा करते हो तो इसका उपाय कुछ नहीं है। मैं तुम्हारे बाप से तुम्हारी बात कहती; पर जिस बात मे मैं सर्वदा तुम्हारी हानि ही देखती हूँ वह उनसे

क्योंकर कहूँ। तुम निश्चय जानो कि जिस बात मे पिता की सम्मति नहीं है, उसमे माता की सम्मति किस प्रकार हो सकती है ? इससे मैं इस बात पर कभी सम्मत न होऊँगी।

यद्यपि उस समय मेरी माता ने पिता से इस बात का कहना स्वीकार न किया, तो भी पीछे से मैंने सुना कि उसने मेरी सब बातें पिता से कहीं और उन्होने बहुत उदास और निराश हो साँस भर कर यह उत्तर दिया कि सुनो, जो तुम्हारा लड़का घर में रहेगा तो आनन्द से वह अपना समय काटेगा, और जो विदेश चला जायगा तो अत्यन्त दुःखी होगा। इससे मैं तो उसे विदेश जाने की आज्ञा कभी नहीं दूँगा।

इसके पीछे जिस काम के सीखने के लिए पिता मुझ से कहते थे और मेरी विदेश जाने की इच्छा जान कर भी मुझ को आज्ञा नहीं देते थे, इसी से मुझसे और उन से प्रायः झगड़ा होता था। इसी भाँति एक वर्ष बीत गया। फिर तो मैं जिस जिस रीति से विदेश चला गया वह कहता हूँ।

एक दिन मैं किसी काम के लिए हल नगर मे गया था। पर मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं वहाँ से कहीं चला जाऊँ। अकस्मात् एक मित्र से मेरी भेंट हुई। यह अपने बाप के जहाज़ पर लंडन नगर जाने को तैयार था। उसने मल्लाहों की भाँति मुझे फुसला कर कहा कि जो तुम हमारे साथ चलो तो तुम्हे कुछ व्यय न करना पड़ेगा और आनन्द से हमारे साथ लंडन नगर देख आओगे। मेरा मन तो उद्यत हो ही रहा था, इसलिए उस समय न तो मैंने

अपने माता-पिता के स्नेह वा सम्मति का विचार किया, न उनको कुछ समाचार भेजा, और न इस बात को सोचा कि जहाज़ पर जाने से मेरी क्या दशा होगी। बस, चट मैं जहाज़ पर जा बैठा और माता-पिता की आज्ञा न मानने के कारण जो कुछ आपत्तियाँ मुझे झेलनी पड़ीं वे अकथनीय हैं।

नीति—शिक्षा*

आज्ञापालन

युवा पुरुषों का सबसे पहिला धर्म और कर्म यह है कि वे बड़े लोगों की आज्ञा मानें, अर्थात् जिस काम के करने से वे रोकें उसे न करें और जिसके करने की वे आज्ञा दें उसे मन लगा कर पूरा करें। आज कल स्वतन्त्रता की चर्चा बहुत कुछ सुनाई देती है और निस्सन्देह यह बहुत अच्छी वस्तु है। और इसी कारण इसे सब लोग चाहते और इसका आदर करते हैं। परन्तु यह बहुत आवश्यक है कि हम लोग यह भली भांति से समझ जावें कि स्वतन्त्रता किसे कहते हैं। स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि बिना बड़ों की बातों पर ध्यान दिये जो मन में आया सो कर बैठे। इसका अर्थ केवल यही है कि प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक कामों के करने में समाज के घृणित वा हानिकारक बन्धनों से बचा रहे। क्योंकि समाज

---

* ब्ल्याकी कृत सैल्फ़ कलचर के आशय पर बाबू श्यामसुन्दरदास, बी० ए०, लिखित।

को लाभ पहुँचाने वाली स्वतन्त्रता निस्सन्देह बहुत अच्छी वस्तु है, और इससे मनुष्य को भी अधिक लाभ होता है। यह मनुष्य को काम करने का स्थान दे देती है, और यह भी कहती है कि क्या काम करना होगा और कैसे करना होगा। बस, उसके साथ संसार मे जितने काम हैं वे सब स्वतन्त्रता के सहित बँधे हुए हैं। नियम के अनुसार काम करने से स्वतन्त्रता दूर भागती है और बन्धन आ जकड़ते हैं। यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि नियमों के अनुसार कामों को करना ही उनको स्वतन्त्रतापूर्वक उचित रीति से करना कहा जाता है। ये नियम, जिन्हें मानना सब का धर्म है, ऐसे नहीं होते जिन्हें प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार मान लें; वरन् ये नियम ऐसे होते हैं कि जिन्हें दूसरे लोगों ने समाज के हित अर्थात् सब लोगों के सुख, भलाई और उपकार के लिए मान लिये हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि जो मनुष्य किसी समाज की भलाई चाहता है, और जिसकी यह इच्छा है कि समाज बना रहे उसका सबसे पहिला धर्म यह है कि वह बड़ों की आज्ञा का मानना सीखे। जगत् मे जितने प्रकार के कार्य हैं सबमें इस धर्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे; यहाँ तक कि कोई मनुष्य चाहे किसी प्रकार से अपना निर्वाह करता और समय काटता हो उसे भी इस धर्म का अवश्य पालन करना पडता है। मनुष्य को अपने विषय में भी केवल उतनी ही स्वतन्त्रता उचित है जिससे समाज को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। ऐसी स्वतन्त्रता को किसी से छीन लेना मानो उसे मनुष्यत्वहीन बनाना है। कोई मनुष्य जैसा भोजन चाहे करे, जिस प्रकार

से चाहे नहायें और जैसे चाहे सोये, परन्तु वह सब लोगों से अपनी इच्छा के अनुसार बर्ताव नहीं कर सकता; अर्थात् वह जिसे चाहे उसे मार नहीं सकता वा जिस किसी की वस्तु चाहे उसे छीन कर ले नहीं सकता है। ऐसी अवस्था में उसे समाज के नियमों को मानना ही पड़ेगा; क्योंकि बिना ऐसे किये समाज बना ही नहीं रह सकता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि स्वतन्त्रता की सीमा उल्लंघन न कर उन नियमों और बन्धनों को माने जिनका मानना समाज के सब लोगों के लिए आवश्यक है। जो मनुष्य-समाज में सबसे बड़ा माना जाता है और जिसका आदर सब लोग सबसे अधिक करते हैं, उसे समाज के नियमों को भी सबसे अधिक मानना पड़ता है। मनुष्य के शरीर में सिर सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, उसको भी शरीर के उन साधारण नियमो को मानना पड़ता है जिन्हें शरीर के दूसरे अंग मानते हैं। जैसे अधिक परिश्रम करने पर नींद का आना मनुष्य के शरीर का साधारण नियम है, और इससे सिर को भी उतना ही मानना पड़ता है जितना पैर मानता है। नियम के विरुद्ध मनमाना काम कर बैठना एक द्वार की दरार के समान है जिसको यदि ज्यो का त्यों छोड़ दिया जाय तो काल पाकर वह एक बड़ा सा बिल हो जायगी। ऐसे ही समाज के नियमों के विरुद्ध किसी कार्य्य को करने देना या करते रहना मानो समाज को नष्ट करना है। बड़े बड़े वीर पुरुषों और सेना के नायकों में इस बात की बड़ी प्रशंसा की जाती है कि वे आज्ञा का देना और मानना इन दोनों बातों को जानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आज्ञा मानने और आज्ञा देने

में बड़ा भेद है जो कि एक दूसरे से विरुद्ध है पर सच बात तो यह है कि एक के साधने से दूसरा आप आ जाता है, क्योंकि वह मनुष्य, जिसे जन्म भर केवल आज्ञा ही देने की बान पड़ गई है; और जिसने आज्ञापालन करना सीखा ही नहीं है, वह यह नहीं जान सकता कि आज्ञा की सीमा कहां तक है। युवा पुरुषों को इस आज्ञापालन के गुणों को बड़े ध्यान से सीखना चाहिए, क्योंकि छोटी सी अवस्था मे इसकी अधिक शोभा रहती है। बालकों को सब कामों को केवल इसी लिए करना चाहिए कि अपने से बड़े लोग उसके करने की आज्ञा देते हैं। स्वामी अपने सेवकों की और किसी बात से इतना प्रसन्न नहीं होता जितना इस बात से कि वे उसकी आज्ञा के अनुसार सब कामों को समय पर ठीक ठीक कर देते हैं; और इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के अपने कामों को ठीक समय पर सचाई के साथ करने से ही सारा समाज आनन्द और सुख-चैन मे बना रहता है। आज्ञा-पालन न करने से जितनी हानियां होती हैं उतनी पूर्ति पण्डिताई वा चतुराई से नहीं हो सकती। घड़ी के ठीक चलने से समय का पता लगता है। यदि वह ठीक न चले तो कोई भी ठीक समय नहीं जान सकता। ऐसे ही जिस मनुष्य के लिए तुम काम करते हो, उसे यदि तुम ठीक समय पर पूरा न कर दोगे तो तुम उसे ठीक न चलने वाली घड़ी के समान धोखा देते हो। किसी मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर दूसरी प्रशंसा नहीं हो सकती कि लोग उसे कहें कि वह मनुष्य सदा उस काम को नियम से करता है जिसके करने का भार वह अपने ऊपर

लेता है और जो सदा उसी समय पर पहुँचता है जब कि उसके आने की आशा की जाती है।

आलस्य।

युवा पुरुषों के लिए इससे अच्छा कोई दूसरा उपदेश नहीं है कि "कभी आलस्य न करो"। यह एक ऐसा उपदेश है कि ज़िसके लिए इच्छा को दृढ़ करने की अधिक आवश्यकता होती है। लोगों को इस बात का ध्यान बालकपन ही से रखना चाहिए कि समय व्यर्थ न जाय, और यह तभी हो सकता है जब कि सब काम नियम से और उचित समय पर किये जायँ। जो युवा पुरुष नित्य किसी काम में कुछ समय लगाता है वह कभी चूक नहीं सकता। रहा इस बात का निर्णय करना कि किस कार्य्य में कितना समय लगाना चाहिए। यह उस कार्य पर और उसके करनेवाले पर निर्भर है। इसमें आवश्यकता केवल इतनी ही है कि चाहे कितना ही थोड़ा समय किसी कार्य में क्यों न दिया जाय पर वह बराबर वैसा ही हुआ करे, उसमें किसी प्रकार की बाधा न पड़नी चाहिए। यदि मान लिया जाय कि प्रति दिन एक काम के लिए एक घंटे का समय लगाया जा सकता है। अब पहिले पहिल तो यह बहुत थोड़ा जान पड़ेगा, परन्तु वर्ष के अन्त मे इसका फल अधिक देख पड़ेगा। जैसे एक छोटा सा बीज देखने में कितनी छोटी वस्तु है, पर उसे बो देने से और समय पर पानी देने से वह एक बड़ा सा पेड़ हो जाता है और उसमें फल फूल लग जाते हैं। एक उपाय को मन मे स्थिर करके उसी के अनुसार प्रति दिन नियम के साथ काम करने

ही से केवल वह काम पूरा हो सकता है। किसी काम के करने में एक साथ ही शीघ्रता करने लगना और फिर उसे छोड़ कर दूसरे काम में लग जाना ऐसा ही व्यर्थ और निष्फल है जैसा आलस्य का करना। एक आलसी मनुष्य उस घरवाले के समान है जो कि अपना घर चोरों के लिए खुला छोड़ देता है। और वह पुरुष बड़ा ही भाग्यवान् है जो यों कहता है कि "मुझे व्यर्थ के कामों के लिए छुट्टी नहीं है, क्योंकि मैं बिना किसी आवश्यक काम के समय को नष्ट नहीं कर सकता, प्रयोजन बिना मुझे कोरी बक बक अच्छी नहीं लगती; काम में लगे रहने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, और जब मैं अपना काम पूरा कर लेता हूँ तब जानता हूँ कि किस रीति से एक काम के अनन्तर विश्राम करके फिर दूसरे काम मे लग जाना होता है"। ऐसे ही मनुष्य उन्नति कर सकते हैं। आलस्य के दूर करने का बहुत ही सरल उपाय यह है कि जिससे यह बात भली भाँति से समझ ली जाय कि बिना हाथ पैर हिलाये संसार का कोई काम नहीं हो सकता। संसार के विषय मे लोग जो चाहे सो कहें, परन्तु यह स्थान समय को व्यर्थ नष्ट करने का नहीं है। ऐसे स्थान में जहाँ पर कि सब लोग अपने अपने काम-काज मे लगे हुए हैं, वहाँ आलस्य करने से केवल नाश ही होगा, लाभ कभी नहीं हो सकता। किसी विद्वान् का कथन है कि "जीवन थोड़ा है, गुण अनन्त है, अवसर हाथ से निकले जाते हैं, परख पूर्ण रीति से हो नहीं सकती और वस्तुओं के विषय मे बुद्धि स्थिर नहीं है"। बस प्रत्येक मनुष्य को इन उपदेशों पर ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह सदा सचेत

बना रहेगा और अपने अमूल्य समय को आलस्य से वृथा नष्ट न करेगा ।

दृढ़ता ।

किसी काम में दृढ़ता के साथ लगे रहने से ही मनुष्य संसार में यथार्थ गौरव पा सकता है और सब कामों को सफलता के साथ कर सकता है । परन्तु वह मनुष्य किसी योग्य नहीं है जो अपने कामों को मन लगा कर दृढ़ता के साथ न करता हो । प्रसिद्ध अँगरेज़ कवि वर्डस्वर्थ अपनी यात्रा के वर्णन में यों लिखता है कि "जब आकाश में मेघ दीखते और मुझे पहाड़ के ऊपर जाना होता, तो मैं अपने विचार से कुछ इस कारण न पलटता कि पहाड़ के ऊपर जाने पर यदि पानी बरसने लगेगा तो मुझे कष्ट होगा, वरन् यह सोच कर कि अपने विचार के अनुसार दृढ़ता के साथ कार्य न करने से मेरे चरित्र में धब्बा लगेगा । बस, मैं आँधी पानी की कुछ भी आशंका न करता और पहाड़ पर चला जाता" । यह कैसी बुद्धिमानी का विचार है । हम ऐसे संसार में नहीं रहा चाहते जहां कि मनुष्य थोड़ी थोड़ी सी तुच्छ बातों से डर जायँ, क्योंकि संसार में अगणित कठिनाइयां हैं जिनको दूर करके अपने काम के करने ही में बुद्धि-मानी है । एक समय कोई मनुष्य एक ऊँचे पहाड़ पर चढ़ने लगा और जब वह उस स्थान के निकट पहुँचा कि जिसे वह उस पहाड़ की चोटी समझे हुए था या जहां तक जाने का उसका विचार था तो उसे विदित हुआ कि मुख्य चोटी अभी दो मील ऊपर है और आगे का मार्ग बड़ा ऊँचा नीचा और बीहड़ है, जिस पर थक जाने

के कारण वह कठिनता से चल सकता था; पर यहं कोई ऐसी बात न थी जिससे वह पहाड़ की चोटी तक न जा सके। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि पहाड़ की चोटी पर कोहरा गिर रहा था और सूर्य के अस्त होने में केवल एक घंटा शेष था। यह देख कर वह शीघ्रता से नीचे उतर आया। पर देखो दूसरे दिन वह क्या करता है? सवेरा होते ही वह पहाड़ पर चढ़ने लगा और अन्त में उसकी मुख्य चोटी पर जा बैठा। ऐसे ही मनुष्य जिस काम को अपने हाथ मे लेते हैं, उसे पूरा करके छोड़ते हैं। इसलिए कभी किसी कठिनाई को देख कर तुम साहस को न छोड़ो और विशेष कर जब कि तुमने अभी उस काम का आरम्भ ही नहीं किया है। एक लोकोक्ति है कि आरम्भ में सभी काम कठिन होते हैं और फिर जो काम जितना अच्छा होगा उसका करना भी उतना ही कठिन होगा और अच्छे काम ही करने योग्य होते हैं। इस संसार में जहाँ पर कि परिश्रम प्रधान वस्तु है, दृढ़ और पक्का मन ही सब कामों को कर सकता है और वह मनुष्य संसार मे कभी नहीं सुखी हो सकता जो कि पासे को इसलिए पटक मारता है कि पहिली बार पासा डालते ही मैं क्यों नहीं जीत गया।

साहस।

सबसे पहिली बात जो कि युवा पुरुषों को अपने मन में लिख लेनी चाहिए, वह यह है कि साहस ही एक ऐसी वस्तु है कि जिससे मनुष्य की यथार्थ शोभा होती है; और यह गुण मन को स्थिर करने और इच्छा को दृढ़ रखने ही से प्राप्त हो सकता है।

यदि तुम यह समझते हो कि इस विषय में तुम्हें अधिक सहायता पुस्तक, प्रमाण, विचार और विवाद से मिलेगी, तो यह तुम्हारी भूल है, क्योंकि पुस्तकें और व्याख्यान तुम्हें केवल उत्साहित और चेतन कर सकते और प्रारम्भ मे तुम्हें साइनबोर्डों के समान उचित मार्ग बता सकते हैं, परन्तु वे तुम्हें उस मार्ग पर चला नहीं सकते। इसमें तुम्हारे पैर ही तुम्हारे सहायक हो सकते हैं; अर्थात् किसी स्थान पर पहुँचने के लिए साइनबोर्ड कुछ हानि नहीं कर सकते, वे तुम्हें केवल मार्ग बता देंगे; परन्तु जितना शीघ्र तुम उनकी सहायता के बिना चलना सीख लो उतना ही अच्छा है, क्योंकि बहुत दूर न चलते चलते ही तुम्हें मार्ग में दलदल, जङ्गल और कोहरा मिलेगा। ऐसी अवस्था मे सोचो तो सही कि उस मनुष्य की क्या दशा होगी जो केवल साइनबोर्ड ही के सहारे से चलता है। ऐसे ही यात्री के समान वे युवा पुरुष हैं जो दूसरों के सहारे पर अपने सब काम किया चाहते हैं। इसलिए तुम्हें उचित है कि तुम अपने मन की दृढ़ता के सहारे सब काम करो, नहीं तो भटके हुए पथिक के समान तुम्हें भी दूसरों का आसरा देखना पड़ेगा, और यदि तुम्हारा सहायक तुम्हारे ही समान भूला या भटका हुआ है, तो सोचो तो सही कि तुम्हारी क्या दशा होगी। इसलिए अपनी कमर कसो और इस बात को सिद्ध करके दिखा दो कि जिस भांति चलना चलने से, कूदना कूदने से और पटा खेलना पटा खेलने से आता है, वैसे ही सज्जन की भांति रहना, जब जब अवसर पड़े तब तब सज्जनता के साथ काम करने ही से

आता है। यदि पहिली बार अवसर पड़ने पर तुम चूक गये; दृढ़ता के साथ तत्पर न रहे, ते दूसरी बार के लिए तुम अधिक निर्बल हो जाओगे, और जो कहीं दूसरी बार भी तुम चूके ते समझो कि अब तुम्हारे किये कभी कुछ नहीं हो सकेगा और तुम दूसरे नीच लोगों के समान हो जाओगे। जैसे जो मनुष्य तैरना सीखता है, वह यदि सदा छिछले पानी मे तैरेगा तो अवसर पड़ने पर, या गहरे पानी मे ऊँची ऊँची लहरों के उठने पर उसका साहस छूट जायगा और वह अपने प्राण न बचा सकेगा। ऐसे ही तुम अपने साहस को कभी कम न करो। केवल पाप और पुण्य के उपदेश ही तुम्हारे जीवन को पवित्र नहीं बना सकते, किन्तु हाँ उन उपदेशों के अनुसार बर्ताव करने से तुम निस्सन्देह अच्छे हो सकते हो। जैसे यात्रा में एक के पीछे दूसरा मील का पत्थर पीछे छूटता जाता है उस भाँति अपने जीवन मे यदि तुम एक के पीछे दूसरी खोटी बातों को न छोडते जाओगे तो अन्त मे अवसर निकल जाने पर पछताने और सिर पटकने के अतिरिक्त और कुछ तुम्हारे हाथ न आवेगा।

बंशनगर का व्यापारी*

बंशनगर में शैलाक्ष नाम का एक विदेशो व्यापारी रहता था। वह उस नगर के व्यापारियों को काम पड़ने पर अधिक व्याज पर

---

* लैम्बस् टेल्स के आशय पर पंडित किशोरीलाल गोस्वामी लिखित।

रुपये उधार देने के कारण बड़ा धनवान् हो गया था। परन्तु वह इतना निर्दयी था कि अपने ऋणियों को बड़े बड़े दुख देता, उन्हें पिटवाता और जैसे होता उनसे अपनी कौड़ी कौड़ी भर लेता था। इसी से उस नगर के दयावान् सुजन लोग उससे बहुत ही अप्रसन्न रहते और सदा उसकी निन्दा किया करते थे। उसी नगर में अनन्त नामक एक दयावान् व्यापारी भी रहता था जो समय पर दीन हीन लोगों को उनके दुःख दूर करने के लिए झट रुपये उधार दे देता और उनसे एक कौड़ी भी व्याज नहीं लेता था। अनन्त के से दयावान् सुजन को देख कर दुष्ट शैलाक्ष बराबर जला करता और अनन्त भी उस अर्थपिशाच से बड़ी ग्लानि रखता था। जब कभी हट्ट में उन दोनों की भेंट होती तो अनन्त शैलाक्ष को उसके निर्दय बर्ताव पर भली भाँति कोरी कोरी फटकार सुनाता जिसे निर्लज्ज शैलाक्ष चुपचाप सह लेता और वह मन ही मन सोचता कि किसी भाँति अनन्त मेरे जाल मे फँसे तो इससे अपना भरपूर बदला लूँ।

उसी नगर मे अनन्त का अभिन्न-हृदय मित्र बसन्त नामक एक धनी रहता था। उसने अपव्यय के कारण अपना सब धन नष्ट कर दिया था, पर जब कभी उसे कुछ रुपयों की आवश्यकता होती तो वह अनन्त के पास आता था। वह भी निष्कपट मन से बसन्त की बराबर तन, मन और धन से सहायता किया करता, और उसे इस रीति से रुपये देता कि दूसरों को अनन्त और बसन्त के धन मे कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता था।

एक दिन अनन्त ने अपने मित्र बसन्त को बहुत उदास देख

कर उसकी उदासी का कारण पूछा। तब बसन्त ने कहा कि "प्रियमित्र! यहाँ से थोड़ी दूर पर बिल्वमठ नामक स्थान में एक बड़ी सुन्दरी कन्या है। उसका पिता बहुत सा धन और भूसम्पत्ति (ज़मींदारी) को छोड़ मरा है। मैं चाहता हूँ कि उस गुणवती सुन्दरी से विवाह कर फिर पहले की भाँति धनवान् हो जाऊँ, किन्तु मेरे पास इस समय इतना धन नहीं है कि मैं रूप मे पार्वती, गुण मे सरस्वती और धन मे साक्षात् लक्ष्मी सी कन्या से विवाह करने के योग्य अपना रूप या बाहरी तड़क भड़क बना सकूँ। इस लिए मैं चाहता हूँ कि यदि तुम इस समय तीन सहस्र रुपयें मुझे उधार दो तो बे-खटके मेरा काम हो जाय। क्योंकि जब मैं उसके पिता के जीते वहाँ जाता था, तो वह कन्या ऐसी प्रेम भरी चितवन से मेरी ओर निहारती थी कि मुझे निश्चय होता है कि वह अवश्य मुझे अपना पति बनावेगी और फिर मैं बड़ा भारी धनाढ्य हो जाऊँगा"। अनन्त ने उत्तर दिया—"मित्र! इस समय तो मेरे पास इतने रुपये नहीं हैं, परन्तु थोड़े ही दिनों में मेरे व्यापार-सम्बन्धी वस्तुओं के अर्णवपोत आ जायँगे, उतने दिनों के लिए किसी से रुपये उधार मिल जायँ तो अच्छी बात है, चलो, शैलाक्ष के पास चलें, यदि वह लालची थोड़े दिनों के लिए मुझे इतने रुपये उधार दे दे तो तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा"।

यह सोच दोनों मित्रों ने शैलाक्ष के पास जाकर अपने आने का प्रयोजन कहा। यह सुन कुटिल शैलाक्ष मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ, क्योंकि वह चाहता था कि किसी भाँति अनन्त मेरे

चंगुल में फँसे तो मैं अपने जी की पुरानी कसर निकालूँ। परन्तु प्रकट में वह रुखाई से कहने लगा—"क्यों जी अनन्त! तुम आर्य हो कर मुझ अनार्य से घृणा करते हो, मेरी जाति को तुच्छ और हीन समझते हो, तुम किसी से सूद नहीं लेते, इस लिए मुझे बराबर लालची और सूदखोर कह कर खोटी खरी कहा करते हो, कई बार तुमने मेरे जातिवालों के सामने मुझे नीचा दिखाया, व्यापारियों मे मेरा सिर नीचा कराया, मुझे व्याज खाने पर धिक्कारा, और अनेक बार मुझे नास्तिक और कटहा कुत्ता कह कर कुत्ते की भांति दुर्दुराया, पर मैंने धीरज के साथ तुम्हारे सब अपमान को सिर झुका कर सह लिया। फिर भी तुम मेरी सहायता चाहते हो और मुझसे तीन सहस्र रुपये उधार लेने आये हो? क्यों महाशय! कहीं कुत्ते के पास भी रुपये रहते हैं कि वह उधार दे? या मैं एक दीन की भांति गिड़गिड़ा कर कहूँ कि श्रीयुत माननीय महोदय! बुध के दिन आपने मुझे कुत्ता कह कर पुकारा और मेरे कपड़ों पर थूका था उस कृपा के बदले मे मैं तीन सहस्र रुपये से आपकी सहायता करता हूँ"।

अनन्त ने उसकी बातें सुन कर कहा—"सुनो शैलाक्ष! मैं फिर भी तुम्हारे खोटे चलन की सहस्र बार निन्दा करूँगा और तुम्हे धिक्कारूँगा। किन्तु अब यदि तुम्हे ऋण देना हो तो मुझे अपना शत्रु समझ कर दो, न कि मित्र जान कर। यदि ठीक मिती पर मैं तुम्हारा ऋण न चुका सकूँगा तो जो दण्ड तुम चाहोगे उसे प्रसन्नता से अपने ऊपर लूँगा"।

शैलाच्च अपने मन का भाव छिपा कर बोला—"अस्तु, जो कुछ तुमने मेरे साथ खोटे वर्ताव किये उन सभों को भूल कर मैं तुम्हे बिना ब्याज के तीन सहस्र रुपये दूँगा जिसमे तुम मुझे अपना मित्र समझो, पर कौतुक के हेतु तुम्हें उस पत्र पर हस्ताक्षर कर देना होगा। जिस पर यह लिखा रहेगा कि अमुक मिती पर मैं सब रुपये न चुका दूँगा तो ऋणदाता मेरे शरीर मे से जहाँ से चाहे आध सेर मांस काट ले"।

शैलाच्च की दुष्टता भरी बातों को सुन कर बसन्त ने ऐसे पत्र पर हस्ताक्षर करने से अनन्त को बहुत रोका और समझाया, पर उसने एक न माना और शैलाच्च के लिखे हुए स्वीकार-पत्र पर हस्ताक्षर कर, रुपये ले, बसन्त के हाथ दिये। उसने सोच लिया था कि तब तक मेरे तीनों पोत आ जायँगे जिससे मिती पूजने के पहले इसके सब रुपये चुकते कर दिये जायँगे।

वह धनाढ्य की लड़की जिसका नाम पुरश्री था, बंशनगर के पास बिल्वमठ नामक स्थान में रहती थी। उससे विवाह करने के लिए बसन्त अपने मित्र गिरीश को साथ ले बड़े ठाट बाट से उसके घर जाकर उसका पाहुना हुआ। थोड़े दिनों मे दोनों की पट गई और पुरश्री ने बसन्त को अपना पति बनाना स्वीकार कर लिया।

मन मिलने पर एक दिन बसन्त ने अपनी भावी पत्नी पुरश्री से अपनी सारी दशा जता दी और यह भी कहा कि "प्यारी, अब मेरे पास केवल उच्च वंश और पदवी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहा"। पुरश्री जो अपने भावी पति के गुणों पर रीझ कर लट्टू हो

रही थी, बड़ी नम्रता और लज्जा से कहने लगी—'हे प्यारे! यह आप क्या कहते हैं? यदि मैं जितना रूप और धन अब रखती हूँ, इससे सहस्र गुणा अधिक रूप और धन रखती, तो भी आप के से सज्जन और सब गुनआगर नागर की पत्नी बनने के योग्य न होती। क्योंकि आपके अतुल और महान् गुणों के आगे मेरा यह तुच्छ रूप और धन किस गिनती मे है? प्राणनाथ! मैं केवल एक भोली और अल्हड़ लड़की हूँ, तो भी निरी बच्ची नहीं हूँ कि आपकी भली शिक्षाओं को ग्रहण करने और उनके द्वारा सुधरने के योग्य न होऊँ। प्रियतम! मैं आपकी आज्ञाकारिणी दासी हूँ। केवल मेरा धन और भूमि ही नहीं, वरन् यह शरीर भी अब आपका हो चुका। कल तक इन सब ऐश्वर्य, अर्थात् बग्घी, घोड़े, दास, दासी, भवन इत्यादि की स्वामिनी मैं थी; पर आज इस विवाह-मुद्रिका के साथ अपने शरीर-सहित इन सब वस्तुओं को आपको अर्पण किये देती हूँ। ऐसे नम्र और मधुर वचन कह कर उसने बड़े चाव से अपने हाथ की अँगूठी उतार कर वसन्त को पहिना दी, और वसन्त ने भी उस प्रेमवती के शील स्वभाव की बहुत कुछ प्रशंसा कर उसकी अँगूठी ग्रहण की और यह प्रतिज्ञा की कि जीते जी इसे अपनी अँगुली से कभी अलग न करूँगा।

जब उन दोनों मे ऐसी स्नेह और प्रीति की बाते हो रही थीं तब वसन्त के मित्र गिरीश ने कहा कि "मित्र! लीजिए आपका तो विवाह ठहर गया, अब मुझे अनुमति हो तो मैं भी इसी समय अपना विवाह कर डालूँ"। वसन्त ने प्रसन्न हो कर कहा—"अच्छी

बात है। यदि तुमने कोई दुलहिन ठहराई हो तो निःसन्देह कर लो"। गिरीश ने कहा—"मेरे मन में मेरी स्वामिनी की सहेली नरश्री गड़ गई है और बड़ी बड़ी नकदर्रा करने पर इसने वचन भी दिया है कि यदि मेरी स्वामिनी का गठ-जोड़ा तुम्हारे मित्र के साथ होगा तो मैं भी तुम्हारी घरवाली बनूँगी"। यह बात सुन कर बसन्त और पुरश्री दोनों बड़े प्रसन्न हुए और पुरश्री ने मुसकरा कर अपनी सहेली से पूछा कि "क्या यह बात सच है ? इस पर उसने लज्जा से अपनी आँखें नीची करके केवल इतना ही कहा कि "हाँ" यह सुन पुरश्री और बसन्त दोनें ने अपनी पूरी प्रसन्नता प्रकट की जिससे गिरीश और नरश्री का सम्बन्ध भी उसी समय पक्का हो गया।

ये दोनें प्रेमी अपनी अपनी भावी पत्नियें के साथ आनन्द की बातें कर रहे थे कि इतने ही मे एक दूत ने आकर अनन्त का पत्र बसन्त के हाथ मे दिया। उस पत्र को पढते ही बसन्त की बुरी दशा होगई, उसके मुख का रङ्ग फीका पड़ गया, उसके बदले मे उदासी छा गई और कान्ति बिगड़ गई। पुरश्री अपने प्रियतम की ऐसी शोचनीय दशा देख कर बहुत घबराई और बार बार पूछने लगी कि "इस पत्र में क्या लिखा है" ? इस पर बसन्त ने अपना और अनन्त का सारा वृत्तान्त कह सुनाया और वह पत्र पुरश्री के हाथ मे दिया। उसने भी पढ़ा और उसकी भी वही दशा हुई जो बसन्त की हुई थी। उस पत्र मे केवल यही लिखा था:—

"प्रिय मित्र बसन्त !

मेरा अर्णवपोत डूब गया और मैंने शैलाक्ष को जो स्वीकारपत्र

लिख दिया था उसकी मिती पूज गई। अब मैं पत्र में लिखी हुई प्रतिज्ञा के पूरी करने पर कदापि जीता न बचूँगा, क्योंकि अब वह मेरे शरीर में से जहाँ से चाहे आध सेर मांस काट सकता है। अस्तु इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, पर मरने के पहिले मैं एक बार तुम्हारा मुख देखा चाहता हूँ। यदि मेरे लिए तुम्हारे विवाह के आनन्द में कोई विघ्न न पड़े तो आओ। मेरा पत्र अपनी प्रेयसी को न दिखलाना।

तुम्हारा अभिन्नहृदय मित्र,
अनन्त"।

पत्र को पढ़ कर पुरश्री ने कहा—"प्यारे, विवाह की सब रीति अभी समाप्त कर डालिए जिसमें मेरे सब धन पर आपका शास्त्रानुसार भी पूरा अधिकार हो जाय। फिर चाहे उस ऋण को वीस गुने रुपया देकर चुकाइए, किन्तु यह कभी न होगा कि आपके मित्र का एक बाल भी बांका हो। वसन्त ने यह बात मान ली और झट पुरोहित के सामने पुरश्री का बसन्त के साथ और उसकी सखी नरश्री का गिरीश के साथ विवाह हो गया। फिर वे दोनों मित्र बड़ी घबराहट के साथ शीघ्र बंशनगर पहुँचे जहाँ अनन्त ऋण के कारण बन्दीगृह में पड़ा हुआ था। वसन्त ने शैलाक्ष को बहुत समझाया और मूल धन से बीस गुने रुपये देने स्वीकार किये, पर स्वीकार-पत्र की मिती बीत जाने से दुष्ट शैलाक्ष ने उसकी एक न सुनी और बराबर वह यही हठ करता रहा कि अब मैं आध सेर मांस के अतिरिक्त और कुछ न लूँगा। बसन्त बड़ी घबराहट

और उदासी के साथ उस दिन की बाट जोहने लगा जो बंशनगर के न्यायाध्यक्ष ने इस भयानक विवाद के निपटेरा करने के लिए नियत किया था।

वसन्त के जाने पर पुरश्री ने कुछ सोच समझ कर एक वकील से इस झगड़े के विषय मे सम्मति लेकर उसके वस्त्र और बंशनगर के न्यायाधीश के नाम की चिट्ठी मँगाली और फिर वह उसके वस्त्र को पहिन कर वकील का रूप बन गई और उसने अपनी सहेली को भी पुरुष के कपड़े पहना कर उसे अपना लेखक (मुहर्रिर) बना लिया। फिर अपनी सहेली के साथ वह बंशनगर की न्यायशाला मे ठीक उस समय पहुँची जब कि अनन्त का झगड़ा उपस्थित किये जाने पर था। न्यायाधीश ने वकील के पत्र को देख कर पुरश्री का बड़ा आदर किया, और जिस वकील का अनुरोध-पत्र लेकर वह आई थी उसे पढ़ कर पुरश्री को इस झगड़े मे विवाद करने की आज्ञा दी।

विचार प्रारम्भ हुआ और निर्दयी शैलाक्ष छुरी लिए हुए वकील (पुरश्री) की ओर निहारने लगा। सामने साहस और धीरता के साथ बँधा हुआ अनन्त खड़ा था और उसी के पास घबराहट और उदासी मे डूबे हुए बसन्त और गिरीश खड़े थे, पर उन दोनों ने अपनी अपनी स्त्रियों को, जिनमे एक वकील के वेष में और दूसरी लेखक के रूप मे थी, न पहिचाना। पुरश्री ने वादी प्रतिवादी (शैलाक्ष और अनन्त) का नाम धाम पूछ कर स्वीकारपत्र को देखा जिस पर हस्ताक्षर करना अनन्त ने स्वीकार किया। जब पुरश्री ध्यानपूर्वक स्वीकारपत्र देख रही थी, तब बसन्त ने उससे प्रार्थना की कि ऐसा

उपाय हो जिस में मेरे मित्र के प्राण बचे, मैं ऋण से बीस गुने रुपये देने को तत्पर हूँ। इस पर पुरश्री ने कहा—"मिती बीत गई, अब वंशनगर का न्याय शैलाक्ष को आध सेर मांस काट लेने से किसी प्रकार नहीं रोक सकता; किन्तु हाँ, यदि यह व्यक्ति दया करे तो अनन्त का बचना सम्भव है"। इतना कह कर पुरश्री ने फिर कहा—"सुनो शैलाक्ष! दया-धर्म सबसे बढ़ कर है। दया ऐसी वस्तु है कि जिसमें आग्रह की कुछ आवश्यकता नहीं। यह जल-धारा की भांति आकाश से पृथ्वी पर गिर कर दोनों को (जो दया करता है उसको और जिस पर दया की जाती है उसको) लाभ पहुँचाती है। यह महानुभावों की अधिकतर शोभा बढ़ाती और यही मंडलेश्वरों के मुकुट से भी अधिक शोभायमान है, राजदण्ड केवल सांसारिक बल प्रकट करता है जो कि आतङ्क और तेज का चिह्न है, और जिससे लोगों के चित्त पर राजेश्वरों का भय छा जाता है; किन्तु दया का प्रभाव राजदण्ड की अपेक्षा कहीं बढ़ कर है। यह ईश्वर का साक्षात् स्वरूप है, अतएव पृथ्वी पर राजमुकुट की उतनी शोभा नहीं है जितनी दया की है। जिस मनुष्य में जितनी अधिक दया है उसमें उतना ही अधिक ईश्वर का अंश समझना चाहिए। इस लिए हे शैलाक्ष! तू केवल न्याय ही न्याय पुकार रहा है, पर निश्चय जान कि केवल न्याय ही के भरोसे पर हम लोगों में से कोई भी मरने के पीछे मुक्त होने की आशा नहीं कर सकता, जब तक उसने दूसरे पर दया न की हो। हम लोग ईश्वर से दया के लिए प्रार्थना करते हैं, पर स्मरण रक्खो कि हम पर कदापि उसकी दया न होगी जब

तक हम लोग अपने भाइयों पर दया न करें। मैंने इतना तुम्हारे न्याय के आग्रह को हटाने के लिए कहा है, परन्तु यदि तुम न मानोगे तो वंशनगर की विचार-सभा तुम्हें आध सेर मांस काटने की आज्ञा अवश्य देगी" ।

वकील की वक्तृता सुन कर सब का हृदय भर आया और सब उसकी प्रशंसा करने लगे; पर निष्ठुर वज्रहृदय दुष्ट शैलाक्ष का पत्थर सा हृदय तनिक भी न पसीजा। वह अपने हठ से न हटा और बराबर न्याय ही न्याय पुकारने लगा। बसन्त ने बीस गुने रुपये देने को कहा और लोगों ने भी उसे बहुत कुछ समझाया, पर उसने एक न सुना। तब पुरश्री ने कहा—"अब तुम्हें व्यवस्थापत्र के अनुसार आध सेर मांस काटने से न्यायसभा किसी प्रकार नहीं रोक सकती। कहाँ है तुम्हारी छुरी और तुला ?" शैलाक्ष यह सुन मारे प्रसन्नता के उछल पड़ा; तथा छुरी और तुला ले वकील के सामने जाकर उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगा कि वकील क्या हैं मानों साक्षात् धर्मराज न्याय करने के लिए स्वर्ग से उतर कर आये हैं। पुरश्री ने शैलाक्ष से कहा—"अच्छा एक चिकित्सक को भी बुला लो कि घाव को ढांक कर उसके रुधिर का बहना बन्द कर देगा"। इस पर शैलाक्ष बोला—"ऐसा मैं नहीं करने का, क्योंकि यह बात स्वीकार-पत्र में नहीं लिखी है"। पुरश्री बोली तो फिर तुम आध सेर मांस काट सकते हो"। आज्ञा सुनते ही राक्षस शैलाक्ष प्रसन्नता के मारे मांस काटने को आगे बढा और न्याय-सभा में चारो ओर से हाहा-कार मच उठा, सबके मुँह पर गहरी उदासी छा गई और सब कोई

आँखें में आंसू भर कर कहने लगे कि "हाय, बिचारे अनन्त का जीवन क्षण भर और शेष है"।

शैलाक्ष ज्योंही अनन्त के हृदय मे छुरी चुभोना चाहता था कि उसे रोक कर पुरश्री ने कहा—"शैलाक्ष ! तनिक ठहर जाओ और सुनो; इस स्वीकारपत्र मे लोहू की एक बूँद भी देना नही लिखा है, केवल आध सेर मांस (विना लोहू के) तुम निःसन्देह काट सकते हो, वह रत्तो भर भी अधिक वा न्यून न हो; परन्तु मांस काटने में यदि एक बूँद रुधिर भी इसके शरीर से निकला तो तुम्हारी सब सम्पत्ति छीन ली जायगी और तुम्हे शूली दे दी जायगी"। शैलाक्ष ऐसी विचित्र युक्ति सुन कर घबरा गया और छुरी रख कर बोल उठा कि "अच्छा मेरे रुपये ही मुझे दिला दिये जायँ, मुझे मांस काटने से कोई प्रयोजन नहीं है"।

इस पर न्यायसभा के न्यायाधीश और सब छोटे बड़े वकील की प्रशंसा करने और शैलाक्ष को धिक्कारने लगे। वसन्त ने देखा कि मेरे मित्र के प्राण बच गये और शैलाक्ष भी रुपये लेने पर सम्मत हो गया, तो चट उसने शैलाक्ष से पुकार कर कहा कि "लो ये रुपये पड़े हैं, गिन लो"। इस पर पुरश्री बोली—"ठहरो, अब इसे कुछ भी नहीं मिल सकता; हाँ, यदि यह चाहे तो रक्त की बूँद गिराये विना केवल आध सेर मांस ले सकता है"। इस पर शैलाक्ष ने घबरा कर मांस काटना अस्वीकार कर केवल अपने रुपये चाहे। वसन्त ने फिर कहा कि "लो ये रुपये हैं"। पुरश्री फिर वसन्त को रोक कर शैलाक्ष से बोली—"सुनो जी, तुमने जान बूझ कर

एक भले मानस का प्राण लेना चाहा था, अतएव तुम्हें प्राण-दण्ड होना चाहिए। हां, यदि विचारपति तुम्हारी प्रार्थना पर तुम्हारा प्राण छोड़ दे तो दूसरी बात है। पर तुम्हारा समस्त धन ले लिया जायगा, जिसमें से आधा धन राज-भण्डार में मिला लिया जायगा और आधा अनन्त को दिया जायगा। इस पर अनन्त ने उदारता से कहा कि "मुझे जो कुछ मिला उसे मैं शैलाक्ष को इस प्रण पर लौटा देता हूँ कि यह एक ऐसा प्रतिज्ञापत्र लिख दे कि जिससे इसके मरने पर वह धन इसकी बेटी जसोदा और दामाद लवङ्ग को मिले"। इस बात को शैलाक्ष ने स्वीकार किया और उसकी प्रार्थना पर न्यायाधीश ने उसको प्राणदान दे कर यह भी कहा कि "शैलाक्ष! यदि तू कुटिलता छोड़ और अपना चाल-चलन सुधार कर सभ्य मनुष्य बने तो शेष आधा धन जो राजभण्डार में मिला लिया गया है तुझे लौटा दिया जायगा"। इस बात को भी शैलाक्ष ने स्वीकार किया और जसोदा वाले स्वीकार-पत्र पर हस्ताक्षर कर अनन्त से छुटकारा पाया। न्यायसभा विसर्जित हुई और सब लोग वकील की प्रशंसा करते करते बिदा हुए। न्यायाधीश ने बहुत चाहा कि वकील मेरा अतिथि बने, पर उसने कई कामों के झञ्झट का मिस कर निमन्त्रण अस्वीकार किया। तब न्यायाधीश बसन्त और अनन्त से वकील के आदर-सत्कार के लिए बहुत कुछ अनुरोध कर विदा हुआ।

बसन्त ने बहुत आग्रह किया कि वकील (पुरश्री) मेरा अतिथि बने, पर उसने किसी प्रकार ठहरना स्वीकार न किया। तब बसन्त

ने बड़ी नम्रता से कहा कि "वकील महाशय, आपही की वचन-चातुरी से आज मेरे मित्र के प्राण बचे, इसके बदले में, आजन्म, हम लोग आपका गुण गाया करेंगे। यह तीन सहस्र मुद्रा जो शैलाक्ष को नहीं दी गई आप ग्रहण करें तो बड़ी कृपा हो। यद्यपि आपकी योग्यता के आगे यह तुच्छ है, तो भी हम लोगों पर अनुग्रह करके आप इसे ग्रहण कीजिए। इसी भाँति बसन्त और अनन्त ने बहुत कुछ कहा, पर पुरश्री ने कुछ भी लेना स्वीकार न किया। किन्तु जब बसन्त ने बहुत ही आग्रह किया तो वह बोली—"अच्छा आप अपने हाथ के अंगुलित्राण (दस्ताने) मुझे दे दें, इन्हें मैं पहिना करूँगा"। यह सुनते ही बड़ी प्रसन्नता से बसन्त ने ज्योंही अंगुलि-त्राण उतारे त्योंही पुरश्री ने फिर कहा—"और यह अँगूठी भी दीजिए, बस ये ही दोनों आपके स्नेही चिह्न मैं सर्वदा अपने काम में लाया करूँगा।"

अँगूठी का नाम सुनते ही बसन्त का मुख सूख गया। वह बड़ी अधीनता से कहने लगा—"महाशय, क्षमा कीजिए; यद्यपि यह अंगूठी आपके परिश्रम के आगे तुच्छ है, पर इसे मैं नहीं दे सकता। हाँ वंशनगर में सब से अधिक मूल्य की जो अँगूठी मिलेगी वह आपको अवश्य ले दूँगा"। इस पर पुरश्री भौंहे तान कर बोली—"बस महाशय! रहने दीजिए, जब मैं कुछ भी नहीं लेता था तब तो आपने बहुत आग्रह करके मुझे भीख माँगने पर विवश किया, परन्तु अब देने के समय बातें बनाते हैं! क्या भले मानसों के ऐसे ही बर्ताव होते हैं? अस्तु, रखिए, मुझे कुछ न चाहिए"। यह

कह कर रुष्ट हो पुरश्री नरश्री के साथ चल खड़ी हुई। उसके थोड़ी दूर जाने पर अनन्त ने बहुत कुछ समझा बुझा कर वसन्त से कहा कि "मित्र! ऐसे उपकारी वकील को रुष्ट न करना चाहिए, इस समय अपनी स्त्री से अँगूठी के विषय में तुमने जो प्रतिज्ञा की है उसे भूल कर इसे वकील को दे डालो"। मित्र की बात सुन कर वसन्त ने तुरन्त अँगूठी उतार कर गिरीश के हाथ वकील के पास भेजी, जिसे उसने सहर्ष ले लिया और नरश्री ने गिरीश को बातों में फुसला कर उसकी भी अँगूठी अपने परिश्रम के पलटे में ले ली। जब दोनों अँगूठियां दोनों सुन्दरियों के हाथ लग गईं तो वे आपस में यह कहती हुईं शीघ्र अपने स्थान बिल्वमठ में पहुँची कि "अब हम लोग अपने अपने पति के साथ भली भांति कौतुक करेंगी कि तुम लोग अवश्य किसी स्त्री को अँगूठी दे आये हो और यहां झूठी बातें बनाते हो"। इसके पीछे वसन्त भी अनन्त और गिरीश को लिये हुए बिल्वमठ में पहुँचा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर पुरश्री और नरश्री अपने अपने पति से झगड़ने लगीं कि "तुम मुझे रत्ती भर भी नहीं चाहते; तभी तो प्रतिज्ञा करके भी प्रेम के चिह्न वाली अँगूठी किसी स्त्री को दे आये हो"। वसन्त और गिरीश शपथ खाते और कहते कि "स्त्री को नहीं दी वरन् वकील और उसके लेखक को"। किन्तु वे दोनों एक न सुनतीं और बराबर यही कहतीं कि "नहीं नहीं, हम लोग भी शपथ खा कर कहती हैं कि तुमने वकील वो लेखक को अँगूठी न देकर स्त्री ही को दी है"। इस झगड़े को सुन कर अनन्त बोला कि "हाय, मैं ही अभागा इस झगड़े का कारण

हूँ"। इस पर पुरश्री ने हँस कर उससे कहा कि "महाशय! आप उदास न हूजिए" और फिर उसने और उसकी सखी नरश्री ने अपने अपने पति को उनकी अँगूठी देकर सारा भेद खोल दिया, जिसे सुन कर सब चकित, हर्षित और मुग्ध हो पुरश्री की अगाध बुद्धि-चातुरी की प्रशंसा करने लगे। फिर पुरश्री ने अनन्त को वह चिट्ठी दी जिसमें लिखा था कि पोत अपने ठिकाने पहुँच गये; डूबे नहीं। उनके डूबने का वृत्तान्त मिथ्या था और फिर जसोदा को जो कि अनन्त की प्रेयसी थी, और अपने बाप शैलाक्ष के यहाँ से भाग कर पुरश्री के पास आ रही थी, उसके बाप का लिखा हुआ प्रतिज्ञापत्र दिया जिसमें शैलाक्ष के मरने पर उस की सारी सम्पत्ति जसोदा को प्राप्त होनी लिखी थी। यह देख दोनों (अनन्त और जसोदा) अपने अपने अचिन्त्य-पूर्व मनोरथ को प्राप्त होकर बड़े प्रसन्न हुए और बार बार पुरश्री के असीम गुणों की प्रशंसा करने लगे।

योंही जब कभी आमोद के समय वे लोग इकट्ठे होते तो पुरुष को स्त्री के न पहिचानने और अँगूठी के विचित्र कौतुक पर बहुत ही हँसते थे। इसी प्रकार आनन्द के साथ उन तीनों युगल मूर्त्तियों के काल व्यतीत हुए।

कर्तव्य और सत्यता*

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परम धर्म है।

---

* स्माइल्स क्यारक्टर के आशय पर बाबू श्यामसुन्दर बी० ए० लिखित।

और जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में कर्तव्य का करना विना बलात्कार के नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम प्रथम मन आपही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरम्भ प्रथम घर से ही होता है, क्योंकि यहाँ पहिले लड़कों का कर्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्रीपुरुष के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रो, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्य को देखते हैं। इसलिए संसार में मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा पड़ा है, जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना हम लोगों का परम धर्म है; और इसीसे हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन मे एक ऐसी शक्ति है जो हम सभों को बुरे कामो के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हम सभों की प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तो वह बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन मे दुखी होता है। लड़को! तुमने देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुरा कर खा लेता है तो वह मन में डरा करता और पीछे से आपही आप पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कह

कर खाता था। इसी प्रकार एक दूसरा लड़का जो कभी कुछ चुरा कर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम लोग चोरी न करे। परन्तु जब हम चोरी कर बैठते हैं तो हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा जो हमें कहे, उसके अनुसार हम करे। दृढ़ विश्वास रक्खो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचायं और दूर भागे तो कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा, पर इससे तुम अपना साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और असत्यपरता (बेईमानी) से धनाढ्य हो गये और तुम कंगाल ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी (खुशामद) करके बड़ी बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़ कर सन्तोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। हम लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इस लिए हम लोगों को इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न हटें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिन्ता नहीं।

धर्म-पालन करने के मार्ग में सब से अधिक बाधा चित्त की चञ्चलता, उद्देश की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती हैं। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अन्त में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मान कर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे बिना अपना स्वार्थ सोचे झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तो फिर किसी बात का ही भय न रहेगा। देखो इस संसार में जितने बड़े बड़े लोग हो गये हैं, जिन्होंने कि संसार का उपकार किया है और उसके लिए आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना है। क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वेही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अँगरेज़ी जहाज़ में जब कि वह बीच समुद्र में था एक छेद हो गया। उस पर बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा पूरा उद्योग किया गया; पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तो जितनी स्त्रियाँ इस पर थीं

सब-नावों पर चढ़ा कर बिदा कर दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते करते उस पोत में पानी भर आया। और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे और उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग न किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसीलिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इसी के विरुद्ध फ़्रांस देश के रहनेवालों ने एक डूबते हुए जहाज़ पर से अपने प्राण तो बचाये, किन्तु उस पोत पर जितनी स्त्रियां और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निन्दा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घना सम्बन्ध है और जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और वचनों से सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल

सकता। यदि किसी घर के सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इस लिए हम लोगों को अपने कार्यों मे झूठ का कभी वर्ताव नहीं करना चाहिए। अतएव सत्यता को सब से ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार मे जितने पाप हैं झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होती है। बहुत से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रुद्ध होना न चाहिए जब कि नौकर भी उनसे अपने लिए झूठ बोलें।

बहुत से लोग झूठ की रक्षा नीति और आवश्यकता के बहाने करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बना कर कहना नीति के अनुसार, समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी बात को सत्य सत्य कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा फिरा कर कहते हैं कि जिससे सुनने वाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार भी कम नहीं।

संसार मे बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने मे अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपा कर धोखा देने वा झूठ बोल कर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःखे

और सन्ताप के फैलाने में मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट झूठ बोलने से अधिक निन्दित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ा कर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, झूठ मूठ दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य को न बोलना इत्यादि। जब कि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तो ये सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह-देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वे ही काम हैं जोकि उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सब को मूर्ख बना कर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अन्त में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडम्बर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आंखों में झूठा

और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडम्बर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा सन्तोष और आनन्द होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य-पालन कर सकता है।

इस लिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सब से श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनन्द-पूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा सन्तुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

अहिल्याबाई*

महाराष्ट्र देश भारत के दक्षिण भाग में है। इसके उत्तर ओर नर्मदा नदी बहती है, पश्चिम में अरब की खाड़ी, दक्षिण में पुर्तकेसों के देश और पूर्व में तुङ्गभद्रा नदी है। इस देश के रहने वाले महाराष्ट्र या मरट्ठे कहलाते हैं। जिस समय औरङ्गज़ेब

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका से संक्षेप करके महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी लिखित।

हिन्दू-राज्यों के नाश करने में लगा हुआ था, उस समय इसी महाराष्ट्र-कुल के एक मात्र वीरशिरोमणि महाराज शिवाजी ने इस भरत-खण्ड में एक नवीन हिन्दू-राज्य स्थापित किया था, इनके साथ ही महाराष्ट्र देश में और भी अनेक वीर पुरुष हुए थे और वे भी शिवाजी की नाईं अति सामान्य वंश में जन्म लेकर अपने अपने उद्योग से एक एक राज्य और राजवंश की प्रतिष्ठा कर गये हैं जिनमें अनेक वंशों में अब तक राज्य वर्तमान हैं। इन्हीं सब वीर पुरुषों में मल्हारराव हुल्कर हुए हैं। महारानी अहिल्याबाई इन्हीं मल्हारराव की पुत्र-वधू थी। इसलिए पहिले यहाँ मल्हारराव का थोड़ा परिचय देना उचित है।

पूना से बीस कोस की दूरी पर नीरा नदी के तीर "होल" नामक एक छोटे से गांव में "धनगर" अर्थात् पशुपालक लोगों की बस्ती थी। उन्हीं में एक मनुष्य का नाम कुन्दजी था। मराठी भाषा में "कर" शब्द का अर्थ अधिवासी अर्थात् रहने वाला है। कुन्दजी के पूर्वज "होल" नामक ग्राम में रहते थे इसलिए वे "होलकर" वा "हुलकर" कहलाये। कुछ लोगों का यह भी मत है कि "हलकर" अर्थात् "हलकर्षण" का अपभ्रंश "होलकर" है। जो कुछ हो, परन्तु मल्हारराव होलकर-वंशी थे। इनका जन्म ईसवी सन् की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। वे जब चार वर्ष के थे तब उनके पिता कुन्दजी का देहान्त हो गया था। उनके मरते ही उनकी स्त्री की अपने सम्बन्धियों से कुछ ऐसी अनबन हुई कि अन्त में वह अकेली अपने पुत्र को ले उस ग्राम से

निकल कर अपने भाई नारायणजी के निकट चली गई। उस समय नारायणजी खान देश के अन्तर्गत "टालान्दो" नामक ग्राम में रहते थे। वहाँ उनकी कुछ थोड़ी सी भूमि थी और आप किसी मरट्ठे दलपति* के यहाँ कुछ अश्वारोही सेना के अधिनायक थे। अपनी जाति के नियमानुसार उन्होंने अपने बालक भांजे को पशु-पालन कर्म में नियुक्त किया। ऐसी लोकोक्ति चली आती है कि एक दिन बालक मल्हारराव एक वट वृक्ष के नीचे पड़ा सो रहा था और उसके पत्तों की सन्धि से सूर्य की किरणें उसके मुख पर पड़ रही थीं। मुख पर छाया न देख कर एक विषधर सर्प ने उसके मुख पर अपने फण से छाया की। जब मल्हारराव की नींद टूटी तो वह सर्प धीरे से वहाँ से सरक गया। धीरे धीरे यह बात नारायणजी के कानों तक पहुँची। तब तो उन्होंने बालक को होनहार जान कर उसे पशु चराने से निवृत्त किया और अपने साथ अश्वारोहियों में रख लिया। मामा के साथ रहने से ये युद्धविद्या में बड़े निपुण हुए और कई एक युद्धों में इन्होंने बड़ी वीरता दिखलाई।

अति दीन और सामान्य अवस्था में जन्म पाने पर भी निज बाहुबल से मल्हारराव भारत के प्रधान वीर पुरुषों में अपना नाम गिना और राज्य का पूरा पूरा सुख भोग कर छिहत्तर वर्ष की अवस्था में इस लोक को छोड़ परलोक पधारे। मरने पर वे वार्षिक छिहत्तर लाख के आय की भूसम्पत्ति और छिहत्तर करोड़ रुपये छोड़ गये थे।

---

* दलपति = सरदार।

उनके एक ही पुत्र खंडेराव नाम का था जिसका विवाह अहिल्याबाई के साथ हुआ था। सन् १७३५ ईसवी में मालवा देश के अन्तर्गत किसी एक सामान्य ग्राम में अहिल्याबाई का जन्म हुआ था। उसके माता-पिता सेंधिया-वंश के थे।

वह कुछ अधिक सुन्दरी न थी। उसके शरीर का रंग सांवला और डीलडौल मध्यम था, परन्तु उसके मुख पर एक ऐसी दिव्य ज्योति विराज रही थी कि जो उसके हृदय के उत्तम गुणों को प्रकाशित करती थी। महाराष्ट्र-स्त्रियों में उस समय पठन-पाठन की रीति प्रचलित न थी, परन्तु अहिल्याबाई पढ़ी लिखी थी। थोड़ी ही अवस्था में उसका विवाह मल्हारराव के एकलौते पुत्र खंडेराव के साथ हुआ था। जब से वह अपनी ससुराल में आई, तभी से बड़े प्रेम और श्रद्धा-भक्ति के साथ वह सास-ससुर की सेवा और घर-गृहस्थी के सब कामों को बड़ी चतुराई और सुघराई के साथ मन लगा कर करती थी। मल्हारराव का स्वभाव उग्र और हठी था, परन्तु व्यय करने में उनका हाथ खुला हुआ था। उनके इस उग्र स्वभाव से अहिल्याबाई मनही मन में दुखी होती और कुढ़ती थी, परन्तु इसलिए कभी उसने उन पर से अपनी श्रद्धा-भक्ति नहीं घटाई। मल्हारराव भी जिस दिन से पुत्र-वधू को अपने घर लाये, उसी दिन से उस पर उनका बड़ा ही वात्सल्य और स्नेह हो गया था। जब कभी किसी कारण से मल्हारराव क्रुद्ध, दुखी या चिन्तित हो रहते, कि जिस समय अच्छे अच्छे दलपतियों का भी साहस उनके सामने कुछ कहने का नहीं होता था, उस समय भी, यदि

अहिल्याबाई कुछ कहला भेजती थी तो बिना विचार और विलम्ब के वह उसे तुरन्त पूरा कर देते थे। यहाँ तक अहिल्याबाई पर उनका वात्सल्य था कि वह जितना जल पिलाती थी उतना ही वे पीते थे। अहिल्यावाई की सास गौतमाबाई का स्वभाव भी उग्र और असहनशील तो था, परन्तु यह भी अपनी पुत्र-वधू के गुणों से वहुत ही वशीभूत हो गई थी। अहिल्यावाई सारे दिन घर-गृहस्थी के काम और साससमुर की सेवा-टहल ही मे बिताती थी, और जब पहर रात बीत जाती तब शयन-गृह मे जाती, और फिर थोड़ी रात रहते ही शय्या से उठ अपने कार्य्य में लगती थी। जन्म भर उसने यों ही अपना जन्म बिताया।

बचपन ही से अहिल्यावाई पाप से भय खाती और पुण्य में मन लगाती थी। उसने अम्बादास पौराणिक से मन्त्र ग्रहण किया था। वह गुरुजी के आज्ञानुसार निज इष्टदेव की श्रद्धा-भक्ति करती और उसे छिपाये रखती थी। अपने यौवन काल मे भी कभी उसने विलास-सुख मे व्यर्थ समय नहीं बिताया। यों तो जाति मे वह शूद्रा थी, पर तो भी उसके चरित्र उत्तम ब्राह्मण-कुल की स्त्रियों से किसी प्रकार भी घट कर न थे।

थोड़ी ही अवस्था मे उसके दो सन्तति हुईं जिसमे एक पुत्र और एक कन्या। पुत्र का नाम मालीराव था और कन्या का मच्छाबाई। पुत्री का विवाह यशवन्तराव फौसिया से हुआ था।

सन् १७५४ ईसवी मे अहिल्याबाई के स्वामी खंडेराव का देहान्त हुआ। वृद्ध अवस्था में पुत्रशोक से मलहारराव बड़े ही

व्यथित हो गये। उस समय अहिल्याबाई की अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी। स्वामी के मृत्यु के समाचार को सुन कर अहिल्याबाई ने पति के शोक से सती होना चाहा इस पर राजपरिवार के लोगों ने उसे वहुत समझाया पर उसने अपना हठ न छोड़ा। अब अन्त में उसके ससुर मल्हारराव विकल होकर बोले—"बेटी! क्या तू मुझे इस अथाह संसार समुद्र में डुबा कर चली जायगी? खंडूजी तो मुझे इस बुढ़ौती मे धोखा देकर छोड़ ही गये। अब केवल तेरा मुख देख कर मैं उसे बिसरा रहा हूँ, और तुझी को देख कर जीता हूँ। किन्तु जो तू भी मुझे त्याग देगी तो मुझे भी अपना प्राण दे देना अच्छा है। बेटी, यह राज-पाट, धन-धान्य सब तेरा ही है। यदि तू चाहेगी तो जो कुछ मेरे जीवन के दिन शेष रह गये हैं वे भी किसी प्रकार बीत जायँगे"। ऐसा कह कर बूढ़े मल्हारराव बिलख बिलख कर रोने और विलाप करने लगे। उनकी इस दीन अवस्था को देख कर लोगो का हृदय फटने लगा और अहिल्याबाई का भी हृदय ऐसा भर आया कि विवश होकर उसे अपना संकल्प त्यागना पड़ा।

खंडेराव की मृत्यु के उपरान्त राज-काज की भीतरी अवस्था के देखने भालने तथा आय व्यय के लेखे का भार अहिल्याबाई ही के ऊपर पड़ा, क्योंकि मल्हारराव तो सदा बाहरी युद्ध मे लगे रहते थे। केवल धन-उपार्जन करना ही उनके भाग्य मे था, परन्तु उसका सञ्चय करना और उसकी सुव्यवस्था करना अहिल्याबाई की चतुरता और दक्षता पर निर्भर था। राज्य के सभी कर्मचारी

अहिल्याबाई की आज्ञा के बिना एक तिनका नहीं हिला सकते थे। मल्हारराव तो अपने कटक के साथ प्रायः "वाफगाओ" नामक स्थान में रहा करते थे और घर में रह कर अहिल्याबाई वार्षिक कर लेती, आय-व्यय का लेखा देखती, उसे जांचती, और सैन्य का वेतन अथवा जो कुछ व्यय की आवश्यकता होती, उतना धन मल्हारराव के पास भेज देती थी। सिर पर इतने बड़े बोझ के रहते भी यह अपना अधिक समय दान, धर्म, तीर्थ, व्रत आदि ही में व्यतीत करती, और इतनी सामर्थ्य होने पर भी क्रोध या अभिमान ने उसके हृदय को स्पर्श तक नहीं किया था।

जब तक मल्हारराव जीते रहे तब तक तो जैसे अन्तःपुरवासिनी बहू-बेटियां रहती हैं, वैसे ही अहिल्याबाई भी अपने पुत्र-कन्याओं के साथ रही। परन्तु मल्हारराव की मृत्यु के उपरान्त उनका पौत्र अर्थात् अहिल्याबाई का पुत्र मालीराव राज्यसिंहासन पर बैठा। परन्तु न तो उसी के भाग्य में राज्य था और न अहिल्याबाई ही के भाग्य में सुख था। पुत्र के द्वारा लोग सुखी होते हैं, परन्तु वह अपने पुत्र के चरित्र से बड़ी ही दुखी थी। दिन रात पुत्र के कुचरित्र के कारण उसे रोना और दुखी होना पड़ता था। क्योंकि बचपन ही से मालीराव का चित्त चञ्चल था। अहिल्याबाई ने सोचा था कि अवस्था बढ़ने पर इसके चरित्र भी सुधर जायँगे और बुद्धि भी ठिकाने आ जायगी। परन्तु उसकी आशा व्यर्थ हुई। क्योंकि मल्हारराव की मृत्यु के उपरान्त मालीराव अपने पितामह की राजगद्दी पर तो बैठा, परन्तु उसका चरित्र न सुधरा। उसकी उन्मत्तता

और क्रूरता ने लोगों का अन्तःकरण ऐसा दुःखित किया कि जिसके कारण अहिल्याबाई को बड़ा कष्ट सहना पड़ा।

न जाने किस पाप से अहिल्याबाई सी पुण्यवती के गर्भ में पिशाचरूप यह पुत्र जन्मा था। बस, इसी चिन्ता में दिन रात उसे रोते और कलपते बीतता था। स्नेहवती माता के अन्तःकरण को पीड़ित करने के कारण मालीराव अधिक दिनों तक राज्य का सुख न भोग सका। वह केवल नौ महीने राज्य कर विक्षिप्त हो परलोक को सिधारा।

मालीराव की मृत्यु के उपरान्त मल्हारराव का कोई भी उत्तराधिकारी नहीं रह गया। और अहिल्याबाई की पुत्री मच्छाबाई के पुत्र को नाना की सम्पत्ति का स्वत्व इसलिये नहीं पहुँचता था कि उसका पिता यशवन्तराव पौसिया हुलकर वंश का न था। अतएव अहिल्याबाई ही को सन् १७६६ मे राज्य-शासन का भार अपने हाथ में लेना पड़ा।

मल्हारराव हुलकर को सदा युद्ध-विग्रह के कारण कभी पूर्व, कभी पश्चिम, कभी उत्तर और दक्षिण के भिन्न भिन्न स्थानों में जाना और अनेक दिनों तक रहना पड़ता था। इसलिए उसने बाजीराव पेशवा के अनुरोध से गङ्गाधर यशवन्त को अपना प्रधान मन्त्री बनाकर सब राज-काज का भार उसी को दे रक्खा था। गङ्गाधरराव बड़ा ही स्वार्थी और कुटिल-स्वभाव का मनुष्य था। उसने विचारा कि यदि अहिल्याबाई ऐसी चतुरा और नीति-निपुणा स्त्री ने स्वयं राज्यशासन का भार अपने हाथ में रक्खा तो मेरे स्वार्थ की सिद्धि में

पूरी बाधा पड़ेगी और इसके सम्मुख मेरी कोई भी कला न लगेगी। इसलिए उसने अहिल्याबाई से कहा कि आप स्त्री हैं, आप से राज्य का भार न चल सकेगा, इस कारण किसी बालक को आप गोद ले लीजिए।

अहिल्याबाई ने उसकी कुटिलता समझ कर उत्तर दिया कि मैं एक राजा की तो स्त्री हूँ और दूसरे की माता, अब तीसरे किसको गद्दी पर बैठाऊँ ? इसलिए स्वयं मैं ही गद्दी पर बैठूँगी। उसके ऐसे उत्तर को पाकर गङ्गाधर ने जो कि उस समय मरट्ठों का एक प्रधान दलपति था, राघोबा दादा को, जो कि पेशवा का चचा था, धन का लोभ दिया और उसे अपने पक्ष पर कर लेने के लिए पत्र लिखा कि यदि आप इस समय चढ़ आवें तो सहज में यह राज्य आपके हाथ आ जायगा। राघोबा भी बिना सोचे विचारे धन के लोभ में आकर गङ्गाधर के पक्ष पर हो गया। जब अहिल्याबाई को यह सूचना मिली कि लोभी राघोबा गङ्गाधर के पक्ष पर है, तब उसने कहला भेजा कि यह राज्य मेरे ससुर का है, मेरे पति का है, मेरे पुत्र का है और अब मेरा है, यह मेरी इच्छा पर है कि चाहे मैं किसी को पोष्य-पुत्र बनाऊँ या न बनाऊँ। ऐसी अवस्था में आप लोगों को यह उचित नहीं है कि मुझ अबला पर किसी प्रकार का अन्याय करें या मुझे व्यर्थ दबावें और यदि आप लोग अन्याय का पक्ष अवलम्बन करेंगे तो उसके उचित फल को भोगेंगे।

अहिल्याबाई के ऐसे वाक्यों को सुन के राघोबा को बिना विचारे यह अभिमान हो आया कि मल्हारराव की पुत्र-वधू एक

विधवा अवला को इतना अभिमान हुआ है जो हम लोगों के आग्रह को नहीं मानती, इसलिए उसे अवश्य दवाना चाहिए। ऐसा विचार कर उसने अहिल्याबाई के साथ युद्ध का प्रबन्ध किया। इस समाचार को जान कर अहिल्याबाई ने भी मालवा देश के दूसरे दलपतियों से इन दुष्टों के अभिप्राय को समझा कर उनकी सम्मति पूछी। तब उन लोगों ने भी गङ्गाधरराव तथा राघोबा दादा की कुटिलता को समझ कर अहिल्याबाई का पक्ष लिया और कहा कि यदि युद्ध होगा तो हम सब तुम्हारे साथ हैं। तब अहिल्याबाई ने अपने विश्वासी दलपतियों को बुला कर एक गुप्त सभा की, और उसी समय जानोजी भोसला, माधोजी सेंधिया और गायकवाड आदि राजाओं तथा पेशवा माधोराव को पत्र लिखा कि मेरे ससुर ने अपने हृदय का रुधिर देकर जिस राज्य को स्थापित किया है, आज मुझे असहाय अवला जान कर अन्यायी लोग उसको ग्रसा चाहते हैं, इसलिए मैं अवला-धर्म के पथ से आप लोगों की सहायता चाहती हूँ। इसलिए धर्म और न्याय पर विचार करके आप लोग मेरी सहायता के लिए सेना भेजें।

उधर तो उसने दलपतियों के पास पत्र भेजे, और इधर तुकोजीराव को अपना सेनापति बना और आप स्वयं वीर-भेष धारण कर और धनुष-बाण, भाला और खड्ग हाथ में लेकर युद्ध के लिए उद्यत हुई।

इधर तो अहिल्याबाई प्रयाण करना चाहती थी कि उधर से गायकवाड की बीस सहस्र सेना भी आ उपस्थित हुई। भोसला के दूत ने भी आकर कहा कि स्वयं भोसला सैन्य-सहित नर्मदा-

तीर पर उपस्थित हैं। और दलपतियों के यहाँ से भी इसी प्रकार सहायता पहुँची और न्यायपरायण पेशवा माधोराव ने भी उस पत्र के उत्तर में लिखा कि जो कोई तुम्हारे राज्य पर पाप-दृष्टि करे, बिना सन्देह के तुम उसके दुष्कर्म का प्रतिफल दो, और अपने प्रतिनिधि-स्वरूप अपने दो कार्य-कर्त्ताओं (कारिन्दों) को मेरे यहाँ भेज दो।

चारों ओर से सहायता और आश्वासन-वाक्य पाकर अहिल्या-बाई ने रातों रात अपनी सेना सजाई और इन्दौर से निकल कर "गड़वाखेड़ी" नामक स्थान का कटक का पड़ाव डाल युद्ध की प्रतीक्षा करने लगी और उसने, जिन जिन रजवाड़ों की सेनायें सहायता के लिए आई थीं, उनके भोजन और व्यय आदि का पूरा पूरा प्रबन्ध कर दिया, क्योंकि उस समय उसका राज-भण्डार धन-धान्य से परिपूर्ण था।

उधर गङ्गाधर पन्त और राघोबा दादा भी पचास सहस्र सेनाओं की भीड़भाड़ लेकर सिप्रा नदी के उस पार आ जमे। इस संवाद के पाते ही अहिल्याबाई के सेनापति तुकोजीराव हुल्कर ने अपनी स्वामिनी (अहिल्याबाई) के चरण की बन्दना करके राघोबा दादा की गति रोकने के लिए, सेना के साथ आगे बढ़ और सारी रात चल कर, सूर्योदय के पहिले, सिप्रा नदी के तट पर, उज्जयिनी के निकट एक घाटी के पास अपनी सेना का डेरा डाल दिया। दूसरे दिन शत्रुओं की सेना जब नदी पार होने की चेष्टा करने लगी तब तुकोजी ने दादा साहब से कहला भेजा कि इधर मैं कटिबद्ध होकर खड़ा हूँ; यदि आप आते हैं तो सँभल कर और अपना आगा पीछा

सोच विचार कर आइए। मैं भी खड्ग लिये आपकी अगवानी के लिए उपस्थित हूँ।

तुकोजी के ऐसे निर्भय-समाचार को पाते ही दादाजी का कलेजा दहल गया। क्योंकि उसने अहिल्याबाई को जीत लेना जैसा सहज मान लिया था वैसा न हुआ। उनकी वीरता की सारी उमङ्ग जाती रही और आगा पीछा सूझने लगा। निदान अछता पछता कर उसने तुकोजी से कहला भेजा कि हम तो मालीराव बाबा की मृत्यु के समाचार को सुन कर बाईजी को सान्त्वना देने के लिए आ रहे हैं, परन्तु न जाने किस भय से आप लड़ने के लिए उद्यत हो उठे हैं। इस चतुराई के उत्तर को सुन कर तुकोजी ने फिर उससे कहला भेजा कि यदि आप अनुग्रह और दया करके बाईजी से भेट के लिए आये हैं तो इतनी भीड़ भाड़ की क्या आवश्यकता है? इसे सुनते ही पालकी पर चढ़ कर दस पाँच सेवकों के साथ राघोबा दादा तुकोजी के शिविर मे चला आया। इधर उसका आना सुन तुकोजी भी आगे बढ़ कर बड़े आदर के साथ उसे अपने कटक में लिवा लाये। उसी दिन राघोबा ने अपने कटक को उज्जैन में छोड़ कर कुछ लोगों के साथ अहिल्याबाई के भेट के लिए इन्दौर की यात्रा की। अहिल्याबाई ने भी बड़े ही आदर-सत्कार से उसकी अगवानी और भेंट की और उसे अपने अन्तःपुर के निकट ही डेरा दिया। एक महीने राघोबा दादा इन्दौर में रहा और बराबर अहिल्याबाई से भेंट करता रहा।

दादा साहब की बिदाई के पीछे भोंसला, गायकवाड़ आदि की

जो सेनायें, सहायता के लिए आई थीं, उन्हे बड़े आदर-सत्कार के साथ अहिल्याबाई ने विदा किया।

अहिल्याबाई ने तुकोजी को राज्य के कठिन कामों को सौंप कर बड़ी ही बुद्धिमानी की थी, क्योंकि एक तो वे हुलकर-वंश ही के थे, दूसरे अहिल्याबाई से वय:क्रम मे बड़े होने पर भी माता के समान उस पर श्रद्धा-भक्ति रखते और "मातुश्री" कह कर उसे पुकारते थे। वे स्थिर-प्रकृति, धर्मभीरु, रणकुशल और राजनीति-निपुण मनुष्य थे। युद्ध और राज्य की शान्ति-रक्षा आदि का प्रबन्ध तो तुकोजी करते थे और अहिल्याबाई निश्चिन्तता से अपना धर्म-कर्म करती और प्रजा की किसमे भलाई होगी यह विचारा करती थीं। वह नित्य सूर्य्योदय के पहले शय्या से उठ प्रातःकृत्य करके पूजा करने बैठती और उसी समय ब्राह्मणों से रामायण, महाभारत और पुराण आदि की कथा सुनती थी। उस समय उसके द्वार पर मँगतों की भीड़ लगी रहती थी। पूजा से उठ के वह अपने हाथ से ब्राह्मणों को दान और कँगलों को भिक्षा देती थी। इसके अनन्तर निमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराती और फिर आप भोजन करती थी। भोजन उसका बहुत ही सामान्य था। उसमें राजाओं और रानियों की भांति विशेष आडम्बर नहीं होता था। आहार के अनन्तर थोड़ी देर वह विश्राम करती और फिर उठ कर एक साधारण सादी साड़ी पहिर राजसभा मे जाती, और संध्या तक बड़ी सावधानी से राज-काज किया करती थी। इसकी सभा में किसी को रोक टोक न थी, जिसे जो कुछ अपना दुःख सुख निवेदन करना होता, वह स्वयं जाकर

निवेदन करता और स्वयं उसे सुन कर अहिल्याबाई यथोचित आज्ञा देती थी। सन्ध्या होने पर सभा विसर्जित होती, तब प्रायः तीन घण्टे तक फिर वह पूजा में बैठती और तीन घण्टे उसी में बिता कर पीछे मन्त्री और राज-प्रधान राजकर्मचारियों को एकत्र कर राज-काज का प्रबन्ध या और जो कुछ मन्त्रणा आदि करनी होती, करती; और राज के आय-व्यय की बड़ी सावधानी से जांच करती थी। जब रात के ग्यारह बजते तब वह सोती थी। राजकाज, प्रजापालन, उपवास और धर्माचरण आदि कार्यों ही में उसके दिन बीतते थे। ऐसा कोई धर्म-सम्बन्धी त्यौहार या उत्सव न था जिसे वह बड़े समारोह से न करती हो। लोगों का ऐसा विश्वास है कि जो सांसारिक कार्यों में फँसा रहता है उससे धर्म-कर्म या परमार्थ की चिन्ता नहीं हो सकती, और जो परमार्थ में लगा रहता है उससे सांसारिक कार्य्य नहीं हो सकते। परन्तु धन्य अहिल्याबाई थी कि जो एक सङ्ग दोनों कार्यों को उचित रीति से भली भांति सम्पादन करती और किसी कार्य में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होने देती थी। जिन लोगो को ऐसा भ्रम है कि एक सङ्ग ये दोनों कार्य नहीं निभते, उनके लिए अहिल्याबाई उदाहरण है। भोग, सुख की लालसा छोड़ कर जिस उत्तमता और नियम के साथ इसने अपना राज-काज चलाया था वैसे उदाहरण इतिहासों में बहुत ही थोड़े दिखाई देते हैं।

जिस समय अहिल्याबाई ने सुख और शान्ति के साथ राज किया था, वह समय वर्त्तमान समय के महाप्रतापी अँगरेज़ों का

सा शान्तिमय न था, वरन् घोर युद्ध, विग्रह, उत्पात और लूटमार का था। उस समय भारतवर्ष एक ओर से कट्टर लड़ाके डाकू, मरहठे, और दूसरी ओर से उद्दण्ड जाट, रोहिले, लुटेरे, पिण्डारी और अनेक डाकुओं का रङ्गस्थल हो रहा था। विशेष कर दक्षिण प्रदेश तो पूर्ण अशान्तिमय था। ऐसे भयङ्कर समय में और ऐसे भयानक प्रदेश में भी जो अहिल्याबाई ने सुख, शान्ति और धर्मपूर्वक राज किया, क्या यह एक अबला स्त्री के लिए विशेष गौरव का विषय नहीं है? वे ही लुटेरे, वे ही लड़ाके, वे ही उपद्रवी, जो सारे भारतवर्ष में हलचल मचा रहे थे, निकट रहने पर भी प्रतापवती अहिल्याबाई के शासित राज्य की ओर आँख तक नहीं उठा सकते थे, यह केवल उसके पुण्य का प्रत्यक्ष प्रताप था।

उसके शान्तिमय राज्य में एक बार उदयपुर के आलसी राणा से उसका विवाद हुआ था, परन्तु उसके वीर सिपाहियों के सम्मुख राणा की सेना को हार माननी पड़ी और अन्त में राणा ने अहिल्याबाई से सन्धि करके झगड़ा मिटाया। जयपुर के राजा के यहाँ हुलकर के कुछ रुपये कर के अटक रहे थे। तुकोजी ने उन रुपयों की उगाही के लिए बड़ी लिखा पढ़ी की। इसी समय सेंधिया का बखशी जिउवा दादा भी अपने रुपये के लिए यत्न कर रहा था। उस पर उन दोनों के पत्र के उत्तर मे जयपुर राज्य के मंत्री दौलतराम ने दोनों को लिखा कि हम सेंधिया और हुलकर दोनों के ऋणी हैं। इसलिए जो इनमें से अधिक बल या क्षमता रखता हो वह हमसे रुपये ले। इस उत्तर को पाकर तुकोजी जयपुर के मन्त्री के मन की

बात को समझ कर सेना के साथ जयपुर की ओर चले कि बीच में जिउवा दादा ने उन पर आक्रमण किया। फिर तो दोनों में घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में तुकोजी के कई साहसी सेनापति और योद्धा मारे गये और उनकी हार हुई। तब वह जयपुर से बाइस कोस की दूरी पर आभागाँव नामक स्थान में लौट आये और वहाँ एक दृढ़ दुर्ग में उन्होंने आश्रय लिया। उस समय अहिल्याबाई महेश्वर -क्षेत्र में थीं। तुकोजी का पत्र उसके पास वहीं पहुँचा। उन्होंने अपने पत्र में धन और सेना की सहायता के लिए प्रार्थना की थी। इस समाचार के पाते ही अहिल्याबाई मारे क्रोध के कांपने लगी और बोली कि इस अपमान से मुझे इतना दुःख हुआ है कि जितना तुकोजी के मरने पर भी न होता। इतना कह कर उसी क्षण उसने पांच लाख रुपये भेजे और साथ ही उसने तुकोजी को एक पत्र लिखा कि तुम किसी प्रकार से विचलित न होना, मैं यहां से रुपये और सेना का पुल बांधे देती हूँ। बस जिस प्रकार से हो उस कृतघ्न को दमन करो और यदि तुम साहस गँवा चुके हो तो लिखो, इस बुढ़ापे में भी मैं* स्वयं आकर युद्ध करूँगी। इसके थोड़े ही दिनों के उपरान्त अहिल्याबाई ने तुकोजी की सहायता के लिये अट्ठारह सहस्र सैन्य भेजी कि जिसे पाते ही उन्होंने घोर युद्ध किया। यह युद्ध तीन महीने तक होता रहा, अन्त में तुकोजी ने वैरी पर विजय पाई और जिउवा ने पराजय स्वीकार की।

अहिल्याबाई के भण्डार में जो कुछ धन सञ्चित था, गद्दी पर

---

* इस समय अहिल्याबाई की अवस्था ६८ वर्ष की थी।

बैठते समय अहिल्या ने उस पर तुलसीदल रख दिया था। एक समय राघोबा दादा ने लोभवश अहिल्याबाई से कहला भेजा कि इस समय मुझे कुछ धन की आवश्यकता है, इस लिए आप मुझे कुछ रुपये भेज दीजिए। अहिल्याबाई उसकी प्रकृति को भलि भाँति से जानती थी, इसलिए उसने कहला भेजा कि मैं अपने सञ्चित धन पर तुलसीदल रख चुकी हूँ, अब मैं उस में से कुछ भी नहीं ले सकती, क्योंकि वह कृष्णार्पण हो चुका है। तथापि आप ब्राह्मण हैं, यदि दान लिया चाहें तो प्रसन्नता से मैं तुलसीदल और अक्षत ले सङ्कल्प करके आपको दे सकती हूँ। राघोबा ने इस बात से चिढ़ कर अहिल्याबाई को लिखा कि मैं दान लेनेवाला प्रतिग्रही ब्राह्मण नहीं हूँ; या तो मुझे रुपये भेजो, नहीं तो युद्ध के लिए तत्पर हो। इसके उत्तर मे अहिल्याबाई ने कहला भेजा कि युद्ध मे प्राण जायँ तो जायँ परन्तु सङ्कल्पित धन तोमैं यों न उठा दूँगी। इस उत्तर को पाते ही राघोबा अहिल्याबाई से युद्ध करने के लिए तत्पर हुआ। इसे सुनते ही वह भी वीर-भेष धारण कर अस्त्र शस्त्र ले घोड़े पर चढ़ पांच सौ दासियों के साथ रणक्षेत्र मे उपस्थित हुई। उस समय उसने स्त्रियों के अतिरिक्त एक भी पुरुष अपने साथ नहीं लिया था। इसका तात्पर्य्य यह था कि वीर महाराष्ट्रगण अबलाओं से कदापि युद्ध न करेंगे। बस, जैसा उसने सोचा था वैसा ही हुआ। राघोबा के योद्धागण स्त्रियों से युद्ध करने मे सम्मत न हुए। तब विवश हो उसने अहिल्याबाई से पूछा कि आपकी सेना कहाँ है? उसने उत्तर दिया कि मेरे पूर्वजगण पेशवा के सेवक थे, इसलिए यह मैं नहीं चाहती कि उन्हीं से

युद्ध करूँ। हां धर्म नहीं छोड़ सकती और न दान किया हुआ धन यों लूटने दूँगी; इस लिए मैं उपस्थित हूँ, अब आप मुझे मार कर भले ही सब धन ले लें, परन्तु प्राण रहते तो मै एक टका भी न दूँगी। अहिल्याबाई के इस उत्तर से वह बड़ा ही लज्जित हुआ और उसने अहिल्याबाई का सन्तोष कर उसे लौटा दिया।

अहिल्याबाई की सभा मे अन्यान्य राजाओं के जो दूत रहा करते थे, वे उसकी बुद्धिमानी और नम्रता से सदा प्रसन्न रहते और उसके दूतगण भी पूना, हैदराबाद, श्रीरङ्गपट्टन, नागपुर, कलकत्ता आदि राजस्थानों में रह कर परस्पर का मेल मिलाप बनाये रहते थे।

अहिल्याबाई केवल दानी या धर्मात्मा ही नही थी, वरन् जितने गुण राजा में होने चाहिएँ वे सब उस मे थे। जिस समय वह राजगद्दी पर बैठी थी, उस समय इन्दौर एक छोटा सा नगर था। उसी के समय मे वही इन्दौर एक उत्तम नगर हो गया। उसके शासन और सद्व्यवहार के गुण से देशदेशान्तरों से व्यापारी लोग अनेक प्रकार की वस्तुओ को लाते और बेचते थे। अहिल्याबाई की उन पर सदा कृपा-दृष्टि रहती थी। उसे इस बात का विशेष ध्यान रहता था कि बाहर से यदि कोई अपनी गाँठ से धन लगा कर आया है तो उसे उसके व्यय के अनुसार लाभ ही हो न कि केवल हानि। देश की उन्नति और वाणिज्य की वृद्धि का होना ऐसी ही राजनीति पर निर्भर है। उसके शासन-काल मे कोई किसी को दुःख नहीं दे सकता था। यदि कोई कैसा ही बलवान् किसी निर्बल पर किसी प्रकार का बलात्कार करता और उसकी सूचना अहिल्या-

बाई को पहुँचती, तो वह अवश्य ही उस दुष्ट को दण्ड देती थी। वह धन-सञ्चय करने से इतनी प्रसन्न नहीं होती थी कि जितनी न्याय करने और प्रजा के पालन करने से सन्तुष्ट होती थी।

एक समय तुकोजीराव का कटक इन्दौर के पास पड़ा हुआ था। वहाँ उन्होंने सुना कि देवीचन्द नामक कोई साहूकार मर गया है, परन्तु उसके कोई पुत्र नहीं है। उस समय के प्रचलित राज-नियम के अनुसार उन्होने देवीचन्द की सम्पत्ति ले लेनी चाही। उस समय अहिल्याबाई मिमिर नामक स्थान मे थी। तुकोजी के ऐसे अभिप्राय के सुनते ही देवीचन्द की विधवा ने अहिल्याबाई से जाकर अपनी सारी विपत्ति रो सुनाई। उस विधवा की विकलता और दीनता से अहिल्याबाई का कोमल हृदय ऐसा द्रवीभूत हुआ, कि उसने उस विधवा को सम्मानसूचक वस्त्रादि दे कर विदा किया और तुकोजी को लिख भेजा कि ऐसी निर्दयता और कठोरता को मेरे राज्य मे स्थान न मिलना चाहिए। इस आज्ञा को पाकर विवश हो तुकोजी को अपनी लालसा से विरत होना पड़ा। अहिल्याबाई के उदार व्यवहार से सन्तुष्ट हो कर इन्दौर की प्रजामात्र उसको धन्य धन्य कहने लगी। योंही और एक समय उसके राज्य में दो अति धनवान् महाजन मर गये। दो विधवाओं के अतिरिक्त उनका भी और कोई उत्तराधिकारी न था और उन विधवाओं ने दत्तक पुत्र भी नहीं लिया था, वरन् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अहिल्याबाई को देनी चाही थी। ऐसी सम्पत्ति के लेने में उसे कोई दोष भी न था। परन्तु उसने उसका लेना स्वीकार न कर यह कहा कि मैं तो तुम्हारा

धन न लूँगी, परन्तु तुम्हें उपदेश देती हूँ कि तुम स्वयं अपने धन को ऐसे कार्यों में लगाओ जिससे तुम्हारा लोक परलोक बने और दोनों लोक में यश हो। उन विधवाओं ने भी अहिल्याबाई की अनुमति के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को उत्तम कार्यों में लगा कर यश को प्राप्त किया।

हुलकरवंशीय दलपतियों के साथ पहले कोई नियत प्रबन्ध न था। केवल समय समय पर लोगों को यथोचित धन राज-भण्डार से मिला करता था। परन्तु इसमें दोनों (लेने और देने वाले) को बड़ी ही असुबोता होता था। अहिल्याबाई ने इस झगड़े को मिटा कर सबके साथ ऐसा अच्छा प्रबन्ध कर लिया कि सबके साथ मेल-मिलाप भी बना रहा और सब प्रकार की झंझट भी मिट गई, तथा राजकोष का भी उत्तम प्रबन्ध हो गया।

उस समय आस पास के अनेक ऐसे राजे महाराजे थे कि जिन की उद्दण्डता के कारण प्रजा अपना धन छिपा छिपा कर रखती थी, क्योंकि जो कहीं राज-दर्बार में यह बात प्रकट हो जायगी कि अमुक प्रजा के पास इतना धन है, तो राजा उसे छीन लेगा। उस समय पालकी पर चढ़ कर निकलना, अथवा उत्तम तिमहले चौमहले घर बनवा लेना, साधारण प्रजा का काम न था, वरन् ऐसा वही कोई भाग्यशाली मनुष्य कर सकता था कि जो राजा का पूर्ण कृपापात्र होता था। परन्तु धन्य थी पुण्यशीला अहिल्याबाई कि जो प्रजामात्र पर दया रखती और उनके साथ वात्सल्यभाव का वर्ताव करती थी। उसके राज्य मे यदि कोई धनवान् होता था तो उसे अहिल्या-

बाई अपने राज्य का गौरव और प्रतिष्ठा समझ अपना कृपापात्र बनाती और उसकी भविष्य उन्नति पर भी पूरा पूरा ध्यान रखती थी।

भारतवर्ष की अनेक जङ्गली जातियों में से भील जाति लुटेरों में बड़ी प्रसिद्ध है, यहां तक कि बृटिश गवर्नमेंट के ऐसे शान्तिमय राज्य में भी अब तक अनेक स्थानों में भीलों का उपद्रव वर्तमान है। ऐसे निरापद काल मे जब पथिकों को भील-जाति की लूटमार से भयभीत होना पड़ता है तो उस समय भीलों का जैसा कुछ उपद्रव रहा होगा यह सहल ही में अनुमान किया जा सकता है। उस समय अनेक ऐसे धन-लोलुप, नीति-रहित, राजकुल-कलङ्क राजे थे कि जो भीलों के द्वारा धन उपार्जन करने मे अपने को लज्जित और कलङ्कित नहीं समझते थे। अहिल्याबाई के राज्य मे तथा उसके आस पास भील बराबर उपद्रव किया करते थे और इनके भय से धन, जन लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाना प्रजा के लिए बड़ा ही कठिन था। अपने अधीन के बहुत से स्थानों मे भीलों ने पथिकों पर कर लगा रक्खा था कि जिसे "भीलकौड़ी" कहते थे, जिसमे एक नियम यह भी था कि प्रत्येक लदे बैल पीछे एक अधेला वे लिया करते थे। अहिल्याबाई ने पहले तो उन लोगों को अपनी कोमल प्रकृति के अनुसार बहुत कुछ समझाया, पर जब उन उद्दण्ड मूर्खों ने एक न माना तब उसने उनके साथ कठोर वर्ताव करना प्रारम्भ किया। इससे बड़े बड़े भील दलपति अहिल्याबाई की कोपाग्नि मे भस्म हुए। उनके अनेक ग्राम भस्म और उच्छिन्न हो गये, यहां तक कि जब उन लोगों ने देखा कि अब तो भील जाति का बीज ही

नाश हुआ जाता है, तब विवश हो उन लोगों ने प्रतापशालिनी अहिल्याबाई की अधीनता स्वीकार कर ली। तब दयामयी अहिल्या-बाई ने उन्हें अभय दिया और उपदेश तथा सहायता द्वारा उन्हें कृषि और वाणिज्य में लगाया, और उनके जीवन का उपाय निर्धारित कर उनकी उद्दण्डता मिटा दी, तथा पूर्व-प्रचलित उनकी "भील-कौड़ी" भी नियत कर दी। इसके साथ ही उसने प्रत्येक भील दलपति के अधीनस्थ स्थानों से होकर आते जाते पथिकों के धन और प्राण की रक्षा का भी पूरा पूरा प्रबन्ध कर दिया, जिससे उसकी यह कीर्ति जो अब तक वर्तमान है, इतनी बढ़ी कि उसकी उत्तम राजनीति का स्मरण कर उस पर सबकी श्रद्धा और भक्ति अधिक हो गई।

जिस समय अहिल्याबाई राजसिंहासन की शोभा बढ़ा रही थी, उस समय हैदराबाद के निज़ाम, टीपू, सुलतान, अवध के नव्वाब, ग्वालियर के सेंधिया, आदि बड़े बड़े प्रतापी राजे महाराजे भारत के भिन्न भिन्न स्थानों का शासन कर रहे थे। ये राजे लोग बड़े प्रतापशाली और बली थे; परन्तु सुनीति, पुण्य और यश मे अहिल्याबाई के समान कोई भी न थे। यद्यपि न तो वह अपने इस प्रताप और यश की रक्षा के लिए अपरिमित धन का व्यय करती थी, और न निज समीपवर्ती राजाओं के समान उसके यहाँ विशेष सैनिक-व्यय ही था; किन्तु उसे यह दृढ़ विश्वास था कि देहबल की अपेक्षा धर्म्मबल ही प्रधान बल है। अतएव वह पूरी रीति से महा-भारत के इस महावाक्य पर दृढ़ थी कि—

"यतः कृष्णास्ततो धर्मो यतो धर्म्मस्ततो जयः"।

यही कारण है कि ऐसा कोई भी तीर्थस्थान नहीं है जहां पर अहिल्याबाई की धर्मशाला आदि न हो।

अहिल्याबाई का जन्म एक दरिद्र गृह में होने के कारण माता-पिता के स्वाभाविक वात्सल्य के अतिरिक्त और अधिक लाड़ चाव की उसे क्या आशा थी। किन्तु वह अपने पूर्व सुकृत के बल से मल्हारराव की पुत्र-वधू हुई। परन्तु हा दैव! उसका यौवन-कुसुम मुकुलित अवस्था ही मे कुम्हला गया! विधवा होने के उपरान्त वह अपने पुत्र और कन्या ही का मुख देख कर अपनी वैधव्य-यातना को भुलाये रहती थी, परन्तु विधाता को वह भी सह्य न हुआ। क्योंकि पुत्र के मरने पर उसने अपनी पुत्री, जामाता और उनकी सन्तति से अपना चित्त बहला कर पुत्र-शोक को भी भुला दिया था, परन्तु उसमे भी बाधा पड़ी। अर्थात् अपनी कन्या के पुत्र का उसने पुत्रवत् प्रतिपालन किया था और वह दिन रात उसे अपने निकट रख उसका लाड़ चाव किया करती थी और उसे अपने सांसारिक सुख का आधार माने हुए थी। परन्तु वह यौवनावस्था को पहुँचा ही था कि निर्दई काल ने उसे भी निज गाल मे रख लिया। इस हृदय-विदारक कष्ट को भी अहिल्याबाई के हृदय ने किसी प्रकार सहन कर लिया और तब एक मात्र अपनी कन्या मच्छाबाई ही पर अन्तिम आशा रख कर वह भग्नहृदय से काल व्यतीत करने लगी। थोड़े ही काल के अनन्तर मच्छाबाई का पति भी काल-कवलित हुआ। उस समय अहिल्याबाई के भग्न

हृदय पर कैसी चोट पहुँची होगी इसका अनुमान पाठकगण स्वयं कर सक़ते हैं। पति के सुरधाम सिधारते ही मच्छाबाई सती होने के लिए उत्कण्ठित हुई। कन्या को इस सङ्कल्प से निवृत्त करने के लिए अहिल्याबाई ने यथासाध्य प्रयत्न किया। यह बार बार धूल मे लोटती, छाती पीटती और बिलबिलाती थी। उसने बार बार अपनी कन्या से विनय किया कि "पुत्री! अब केवल तू ही मेरे बुढ़ापे की आधार है, बिना तेरे क्षण भर भी, इस दुःखमय जगत् मे मेरा निर्वाह न होगा। हाय! अब मेरा एक भी आधार नहीं है जिसके सहारे यह प्राणपखेरू टिक सके। इसलिए तू अपने इस सङ्कल्प को मेरी दुःखमय दशा देख कर छोड़ दे"। इत्यादि अनेक प्रकार से अपनी पुत्री को सती होने से रोका, परन्तु मच्छाबाई ने एक भी न सुना और बड़ी दृढ़ता और स्नेह भरे वाक्यों से कहा—"माँ, अब तुम और कितने दिन जिओगी, दो चार वर्ष में तुम्हारा भी अन्त होना है; इसलिए जो इस समय तुम मुझे सती होने से रोकोगी तो न जाने कितने वर्षों तक मुझे इस घोर दुःखमय जीवन को व्यतीत करना पड़ेगा; सोचो तो वह समय मेरे लिए कैसा दुःखमय होगा! परन्तु आज यदि मेरा सङ्कल्प ईश्वर ने पूरा कर दिया, तो संसार से यशपूर्वक पति के साथ मैं सत्यलोक को चली जाऊँगी। इसलिए माता, मेरी भलाई, मेरे यश और मेरे कल्याण के लिए तुम मुझे आज्ञा दो और बिदा करो, जिसमें मैं तुम्हारे देखते देखते स्त्रीधर्म का पूरा पूरा निर्वाह करती और विजय का डङ्का बजाती हुई सुख और शान्ति के सहित चिरकाल के लिए अपने सत्त से

सतीलोक में जा बसूँ"। जब अहिल्याबाई ने देखा कि मैं किसी प्रकार से अपनी कन्या को सती होने की प्रतिज्ञा से निवृत्त नहीं कर सकती, तब उसने विवश होकर कातर स्वर से मच्छाबाई को सती होने की आज्ञा दी।

आज्ञा के पाते ही सब संस्कार और सती होने का प्रबन्ध होने लगा। वह अहिल्याबाई कि जो जीवमात्र के कष्ट को नहीं देख सकती थी, वरन् उनकी रक्षा का यत्न करती थी, आज वही अपनी एक मात्र जीवनावलम्ब प्रतिमा को विसर्जन करने के लिए स्वयं नर्मदा के तट पर उपस्थित हुई, चन्दन, अगर आदि काष्ठों से चिता बनाई गई और मच्छाबाई अपने पति के शव को विधि-पूर्वक अपनी गोद मे लेकर उस पर जा बैठी। चिता मे अग्नि लगाई गई; घृत-कर्पूरादि के स्पर्श से देखते देखते वह चारों ओर से लपलपाती और धकधकाती अग्नि-शिखाओं से घिर गई और मच्छाबाई के कोमल अङ्ग को भस्मीभूत करने लगी। उस समय चारों ओर शंख, घण्टा, भेरी, नरसिंहा आदि के घोर शब्द को भेदन करता हुआ अहिल्याबाई का हृदयविदारक विलाप दर्शक मण्डली को विकल और विह्वल कर रहा था। वह मोहवश बार बार चिता मे कूदने का उद्योग करती थी, परन्तु दोनों ओर से दो ब्राह्मण उसे दृढ़ता से पकड़े हुए थे। जब चिता केवल अङ्गारों की ढेरी सी हो गई, उस समय अहिल्याबाई पछाड़ खा धम्म से पृथ्वी पर गिर कर मूर्च्छित हो गई। अनेक प्रयत्न करने पर भी थोड़ी देर तक उसकी मूर्च्छा न टूटी। अन्त मे थोड़े समय के उपरान्त उसे चैतन्य तो हुआ,

परन्तु उसकी भ्रान्ति और विकलता ज्यों की त्यों बनी रही। बड़े कष्ट से लोग उसे राजभवन मे ले आये, परन्तु उसके शोक मे कुछ भी न्यूनता न हुई। तीन दिन पर्यन्त बिना अन्न जल के वह उसी प्रकार रोती, बिलबिलाती, छाती पीटती और पछाड़ें खाती रही। असंख्य दास, दासी, राजकर्मचारी और ब्राह्मण, पण्डित आदिक उसे अनेक प्रकार से धैर्य्य दिलाते और शान्त करते रहे। परन्तु उसका सन्तप्त हृदय किसी प्रकार भी शान्त नहीं होता था। कई दिनों के उपरान्त धीरे धीरे उसका हृदय स्वयं कुछ कुछ शान्त होने लगा। तब उसने अपनी पुत्री और जामाता के स्मरणार्थ एक अति रमणीय मन्दिर बनवाया जिसके शिल्प-नैपुण्य को देख आज दिन भी बड़े शिल्पकार चकित और विस्मित होते हैं।

एक तो पहले ही से अहिल्याबाई किसी प्रकार के भोग-विलास या राजकीय सुख में लिप्त न थी, वरन् अति सामान्य रूप से अपने जीवन का निर्वाह करती थी; परन्तु अब तो कन्या के शोक से जो कुछ उसके चित्त की शान्ति थी वह भी न रही; वह अब केवल अपनी प्राण-रक्षा भर किसी प्रकार से कर लेती परन्तु उससे धर्म-निष्ठा, दृढ़ता, सहिष्णुता, न्यायपरता आदि गुणों में किसी प्रकार की त्रुटि या न्यूनता अन्तकाल पर्यन्त कभी भी न हुई।

यों ही कन्या के मरने पर तीन वर्ष पर्यन्त रामराज्य करके साठ वर्ष की अवस्था मे (सन् १७८५ ई० में) इस नश्वर देह को त्याग, अपने विमल यश की पताका उड़ाती हुई अहिल्याबाई नित्य-लोक को पधार गई।

सर ऐज़क न्यूटन*

भारतवर्ष मे जिस समय कमलाकर भट्ट† ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्ततत्त्वविवेक‡ को रचा था, उस समय योरप मे न्यूटन की अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उसका पिता उसकी बाल्यावस्था ही में मर गया था, परन्तु बुद्धिमती माता की कृपा से बाल्यावस्था ही में उसके हृदय मे अनेक गुणों के अंकुर उत्पन्न हो गये थे। बारह वर्ष की अवस्था मे, अर्थात् सन् १६५४ ई० में, उस की माता ने उसे कोलसवर्थ नगर में ग्रेन्थम के विद्यालय में जहां कि उसका जन्मस्थान है, भेजा। वहां पर वह यन्त्रकला मे ऐसा निपुण हुआ कि लोगों को उसकी बुद्धि पर आश्चर्य होने लगा। और विद्यार्थी तो अवकाश पाने पर खेल कूद कर अपने समय को नष्ट करते थे, परन्तु न्यूटन उस समय जलयन्त्र, वायुयन्त्र इत्यादि की रचना मे नियुक्त रहता था। वह यन्त्ररचना मे ऐसा उत्साही था कि लोहारों की भांति बसूला, रेती इत्यादि यन्त्रो को भी सदा अपने पास रखता था। उसके पड़ोस में एक पवन की चक्की थी। उसे देख कर उसने अपने हाथ से वैसी ही एक छोटी सी बहुत ही सुन्दर चक्की बना ली। वह अपनी चक्की को कभी

* महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी लिखित।

† भारतवर्ष में यह बड़ा प्रख्यात गणितज्ञ हो गया है। इसके पिता का नाम नृसिंहशास्त्री था। इसने अपने बड़े भाई दिवाकर दैवज्ञ से ज्योतिष शास्त्र पढ़ा था।

‡ यह ग्रन्थ जो कि अनेक नई नई उपपत्तियों और युक्तियों से विभूषित है काशीजी में शाके १५८० में रचना किया गया था।

कभी छप्पर के ऊपर रख देता था और जब वह वायु के वेग से चलने लगती तो अपनी रचना पर मन ही मन आनन्द में मग्न हो जाता था। किसी मित्र ने न्यूटन को एक पुराना सन्दूक़ दिया था, उसको उसने काट छाँट कर एक घटी-यन्त्र बनाया। इसका मुख तो प्रचलित घड़ी ही के सदृश था, परन्तु सुई एक लकड़ी में जकड़ी थी। यन्त्र के पीछे वाली लकड़ी पर जब जल की धारा का आघात लगता, तब लकड़ी के सङ्ग मुख पर चारों ओर सुई चला करती। भास्कराचार्य ने भी इसी प्रकार के एक "स्वयंवह" नाम के यन्त्र को अपने गोलाध्याय में जल के बल से चलने वाला बनाया है।

न्यूटन समय पर पत्र (कागज़) न रहने से घर की भीतों ही के ऊपर रेखागणित इत्यादि के क्षेत्रों को लिख कर उनके सिद्धान्तों को अपने मन मे बैठा लिया करता था, इस कारण से उसके घर की भीत एक प्रकार की पुस्तक ही हो गई थी। अठारह वर्ष की अवस्था मे वह ग्रेन्थम से केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में पढ़ने के लिए गया वहां पर उसने मोटे कांच के टुकड़े के एक छेद में से प्रकाश बाहर होकर आवे तो उसका कैसा रूप होता है और प्रकाशमान पदार्थ की प्रत्येक किरण मे सात रङ्ग के अवयव वैसे ही रहते हैं जैसे कि इन्द्रधनुष मे होते हैं, इन सिद्धान्तों को बड़े विस्तार से वर्णन किया।

सन् १६६५ ईसवी में केम्ब्रिज में महामारी का बड़ा भारी उपद्रव फैला। इसलिए न्यूटन भाग कर अपने घर चला गया। वहां पर एक दिन वह अपनी वाटिका में टहलता था, दैवात् उसके

सामने एक वृक्ष का फल टपक पड़ा; इस पर उसने अनुमान किया कि अवश्य इस पृथ्वी मे आकर्षण-शक्ति है । फिर इस आकर्षण की ओर उसका मन इतना बढ़ा कि इस पर उसने अनेक नई नई बातो का पता लगा डाला और यह भी सिद्ध किया कि आकाश में जितने ग्रह पिण्ड और तारे हैं वे सब परस्पर के आकर्षण ही के बल से निराधार घूमा करते हैं । न्यूटन के पहले योरप मे कोई विद्वान् इस बात को नहीं जानता था कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है । भारत-वर्ष के विद्वान् चिरकाल से इस बात को जानते थे कि पृथ्वी मे आकर्षणशक्ति है, परन्तु इस आकर्षण का कैसा धर्म है इस बात पर किसी का मन न गया, केवल लोग घर बैठे कविता लिख लिख कर ग्रन्थ रचा किये, परन्तु यह किसी से न बन पड़ा कि परीक्षा के द्वारा इस आकर्षण के धर्म का पता लगावें ।

सन् १६६७ ईसवी मे न्यूटन फिर केम्ब्रिज में आया । वहाँ पर उसकी योग्यता देख कर लोगों ने उसे विद्या-सम्बन्धिनी एक सर्वोच्च पदवी दी । दो वर्ष के अनन्तर यह केम्ब्रिज ही मे गणितशास्त्र का प्रधान अध्यापक हुआ ।

सन् १६८३ ई० में उसने ल्याटिन भाषा में एक "प्रिन्सिपिया-मेथेमेटिका" नाम के अपूर्व गणित के ग्रन्थ की रचना की, जिस पर आज तक अनेक टीकाएं और टिप्पणियाँ बनती चली आती हैं ।

सन् १६९५ ई० मे वहाँ की गवर्नमेंट ने उसे अपनी टकसाल का अधिकारी बनाया था ।

यद्यपि वह इतना भारी विद्वान् था तथापि उसके शरीर मे

अहङ्कार व अभिमान का लेश भी नहीं था। इसी कारण वह इतना सर्वप्रिय हो गया था कि जहाँ जाता वहीं दस बीस विद्वान् उसे घेर लेते थे। सच पूछिए तो उसे ऋषि कहना चाहिए। एक दिन रात्रि के समय वह कहीं बाहर चला गया था; चौकी पर उसके लिखे हुए अनेक पत्र पड़े थे और मोमबत्ती जलती थी। उसका कुत्ता, जिसे वह बहुत चाहता था और जिसका नाम हीरा था; न जाने क्या समझा कि एकाएक चौकी पर चौंक पड़ा; इससे बत्ती गिर पड़ी और सब पत्र भस्म हो गये। आने पर न्यूटन ने उस कुत्ते से केवल इतना ही कहा कि तुझे क्या ज्ञान है कि मैंने कितने परिश्रम से कई वर्षों मे लिख कर इनको पूरा किया था।

सन् १७११ ई० में गणित के एक नियम के ऊपर लेब्निज़ से, जो कि जर्म्मन देश का एक ही प्रसिद्ध गणित-शास्त्र का विद्वान् था, और न्यूटन से विवाद हो गया। अनेक विद्वान् कहते थे कि यह नियम न्यूटन का आविष्कृत है और अनेक विज्ञ कहते थे कि यह लेब्-निज़ का आविष्कृत है। निदान इसका विचार लंदन की रायल सोसायटी में किया गया। उस समय पूरा पूरा विचार न होने से उसका आविष्कर्ता न्यूटन ही ठहराया गया और महासभा की ओर से चारों ओर विज्ञापन पत्र भेजे गये कि आज से सबको विदित हो कि यह नियम न्यूटन का आविष्कृत है।

इसके अनन्तर जर्मन देश के महाराज ने लंदन मे सूचना दी, कि इस विषय पर उत्तम रीति से पुनः विचार करना चाहिए। अन्त मे दोनों ओर के सभ्यों ने एक मध्यस्थ द्वारा (जिसके यहाँ न्यूटन,

और लेब्निज़ दोनों प्रायः अपने अपने सिद्धान्तों को पत्र द्वारा लिख कर भेजा करते थे) दोनों के पत्रों को देख कर सिद्ध किया कि दोनों ने दूसरे के सिद्धान्त वा नियम को विना देखे ही अपनी अपनी बुद्धि से इस नियम को आविष्कार किया है, इस लिए दोनों को इसका स्वतन्त्र कर्ता कहना चाहिए। परन्तु बड़े खेद की बात है कि इस अन्तिम विचार (फ़ैसले) के प्रचलित होने के पूर्व ही महावैरी काल ने लेब्निज़ को अपना ग्रास बना लिया था। जो हो परन्तु आज कल तो सभी विद्वानों के मत से उस नियम का कर्त्ता लेब्निज़ ही माना जाता है और उसके आदर के लिए उस नियम को लोग Leibnitz's Theorem कहते हैं।

न्यूटन सन् १७२७ ईसवी मे पचासी वर्ष की अवस्था मे इस असार संसार को तुच्छ समझ कर परलोक को सिधारा। मरने के पहिले बीस दिन पर्यन्त वह पीड़ित था। मरती समय उसका यह अन्तिम वाक्य था कि "लोग मुझे/चाहे जैसा विज्ञ समझते हों, परन्तु मेरी तो दशा ऐसी थी कि जैसे कोई बालक समुद्र के तट पर खड़ा हो और दैवयोग से तरङ्गों के द्वारा कभी उसके हाथ चिकना कङ्कड़ और कभी सीपी आजाय; उसी प्रकार मैं भी मुग्ध बालक सा अपार महा-ज्ञान समुद्र के तट पर खड़ा था, जिसका मुझे कुछ भी वारापार नहीं सूझता था, केवल दैवयोग से थोड़ा सा ज्ञान-रत्न मेरे हाथ लग गया"।

नीति-विषयक इतिहास*

—:०:—

दोहा ।

मूरख फैसेऊ बली, पण्डित अबल शरीर ।
सदा प्रबल पण्डित तहाँ, अबुध अबल कुरुबीर ॥ १ ॥

रह्यो एक पञ्चानन[1] बन मे ।
सो नित प्रलय करत मृगगन में ॥
तब सब ही मिलि कियो विचार ।
नित प्रति इक मृग देहिं अहार ॥१॥
मृगन जाय मृगपति[2] सों भाख्यो ।
प्रभु हम एक नियम अभिलाख्यो ॥
नित प्रति लेहु एक मृग आप ।
देहु न और मृगन कहँ ताप ॥२॥
एवमस्तु केहरि कहि दीनों ।
ता दिन सों नित यह व्रत लीनों ॥
एक दिन रही ससा की पारी ।
ता ने मन यह बात विचारी ॥३॥
ऐसी जुगत करैं चित लाय ।
जथा जनम को कंटक जाय ॥

---

* बाबू गोपालचन्द लिखित ।

१ सिंह । २ सिंह । ३ खरहा, ख़रगोश ।

समय टारि कै धीरे धीरे ।
कांपत गयो सिंह के नीरे ॥४॥
वोल्यो बाघ कोप सों पुष्ट ।
इतो अबेर करी क्यों दुष्ट ॥
ससा भयो तब बचन सुनावत ।
प्रभु मैं रह्यो आप ढिग आवत ॥५॥
तुम सों अपर मिल्यो हरि[1] राह ।
तिन पकरयो मोहि भोजन चाह ॥
तब हम कह्यो हाल सब बन को ।
नाथ कृपा मृगगन के पन को ॥६॥
जान देहु मोहि स्वामी पास ।
ऐहैं तिनसों कहि इतिहास ॥
सुनि सो बहु गरज्यो भय छावन ।
सपथ करी तब दीनों आवन ॥७॥
इतनी बात सुनत सो नाहर ।
कहत सचोप[2] कोप करि जाहर ॥
रे खरमति खरगोश अयाने[3] ।
मो सम अपर कहत बिन जाने ॥८॥
तिहि दिखाउ ता सठ संग लरिहैं ।
ताहि भच्छि तोहि भच्छन करिहैं ॥

१ सिंह । २ ताव के साथ । ३ मूर्ख, नादान ।

सुनि सो ससक सिंह के सङ्ग।
चल्यो विपिनमग पूरि उमङ्ग॥ ९ ॥
महा कूप लखि बोलत भयो।
प्रभु वह नाहर या महँ गयो॥
सुनि सो जाय लखी निज छाया।
अपर जानि मधि कूदि नसाया॥ १० ॥

दोहा।

इमि मूरख केहरि हन्यो, सस पण्डित वन माहिं।
यासों जग में बुद्धिबल, सब बल अधिक सदाहिं॥ १ ॥
बुद्धिमान विवसहु परे, अनुपम युक्ति विचार।
समय काज साधत सुघर, डारत अबुध बिगारि॥ २ ॥

चौपाई।

रह्यो महा वन में इक बारन[1]।
ताके संग मतङ्ग[2] हजारन॥
सो ग्रीसम जल बिन दुख पाय।
भ्रमत लख्यो वन महा तलाय॥ १ ॥
तहाँ रोज जल क्रीड़न आवै।
जाति वृन्द[3] सों धूम मचावै॥
ता सर तट बहु ससक निवास।
होन लगे ते पद सों नास॥ २ ॥

---

१ हाथी। २ हाथी। ३ समुदाय, झुण्ड।

बन्धु वर्ग को लखिकै छीन।
भये तहाँ के सस दुख पीन॥
तब इक वृद्ध रह्यो तिन माहां।
सो विचारि के चल्यो तहां हाँ॥ ३॥
ता सर तट इक परवत सान।
तहाँ जाय बैठ्यो मतिमान॥
जब आयो गज को समुदाय।
बोल्यो सब सों सोर मचाय॥ ४॥
अहो मदान्ध मूढ़ गजराज।
बानी सुन मम सहित समाज॥
ससक अहैं हम ससि के दूत।
पठयो हमैं अत्रि के पूत॥ ५॥
सुर अनुसासन को सुनि लेव।
पुनि जो चहौ करौ सो एव॥
ससक ससी के प्यारे खास।
नित प्रति करत हृदय मे बास॥ ६॥
तिनहिँ बधत तुम चरन प्रहार।
बिनसहिं नित प्रति कैक हजार॥
सो यह करत महा अघ काम।
तासों सब जैहौ जम धाम॥ ७॥
जो निज भली चहौ तौ बारन।
करहु न या सर ढिग पग धारन॥

ऐसो कह्यो कोपि कै चन्द ।
याको उत्तर देहु गयन्द[1] ॥ ८ ॥

सुनि गजराज सडर कहि दीन ।
बिन जाने हम यह अघ कीन ॥
ससि को कहहु छमैं अपराधू ।
हम अति कीनो कर्म असाधू ॥ ९ ॥

अब कबहूँ नहिं या मग ऐहैं ।
अनत कहूँ जल पीवन जैहैं ॥
कहत ससा गज हैं अति ज्ञानी ।
देव देव की आज्ञा मानी ॥ १० ॥

चलहु करावहुँ प्रभु को दरसन ।
जासों होय सकल अघ मरसन[2] ॥
इमि कहि तेहि सर ढिग ले आयो ।
जल कम्पत विधु[3] बिम्ब[4] दिखायो ॥११॥

लखहु कोप कै काँपत ऐसे ।
अबै करत हम सांत बिनै से ॥
हे ससांक[5] देवन के देव ।
गज अघ किय जाने बिन भेव ॥१२॥

सो प्रभु क्षमा करहु अपराधु ।
अब न करैगो करम असाधु ॥

---

१ हाथी । २ संशोधन । ३ चन्द्रमा । ४ छाया, परछाँही । ५ चन्द्रमा ।

इमि कहि गजहिं फेरि लै आयो ।
बुधि प्रताप गुरुकाल बचायो ॥१३॥

दोहा ।

मानिक मोती हीर अरु, जिते रतन जग माहिं ।
सब वस्तुन को मोल जग, मोल बुद्धि को नाहिं ॥४॥
प्रबल शत्रु बहु देखिकै, बुद्धिमान जो होय ।
आपस में झगराय कै, आपु रहै दुख खोय ॥५॥

चौपाई ।

मूसक एक रह्यो वन माहीं ।
महासाल को बिटप[1] वहांहीं ॥
इक दिन व्याध पसार्‌यो जाल ।
फँस्यो जाय तहँ बड़ो बिड़ाल[2] ॥१॥
शत्रु बंध्यो लखि प्रमुदित मूसक ।
आय लग्यो तहँ कूदन दूसक ।
ताछन तहां नकुल[3] इक आयो ।
बैठ्यो चहत आखु[4] कहँ खायो ॥२॥
तरु ऊपर बैठ्यो इक कौसिक[5] ।
मूसक ग्रसन करन हित औसिक[6] ॥
तिनहिं देखि सो मूस सकानो[7] ।
तीन काल[8] पासहि पहिचानो ॥३॥

वृक्ष । २ बिलार । ३ नेवला, न्यौर । ४ चूहा । ५ उल्लू ।
य । ७ घबराया । ८ मृत्यु, मौत ।

लग्यो विचारन मन में सोई ।
कैसे अब मम जीवन होई ॥
भूमि रहत तो नकुल चबात ।
खात उलूक तरुहिं जो जात ॥ ४ ॥

छिपत जाल तो खात विड़ाल ।
हे विधि करहु कृपा या काल[1] ॥
तब विचारि सो मूसक ज्ञानी ।
मारजार[2] सों बोल्यो बानी ॥ ५ ॥

तुम सरवज्ञ अहौ मतिमान ।
हम बरनत सो सुनहु सुजान ॥
लखि तुव वचन मोहि दुख दाहत ।
तासों तुमहिँ निकारन चाहत ॥ ६ ॥

पै यह सत्रु उभय[3] मम ओर ।
अहैं लखहु तरु अरु बन ठौर ॥
तासों आप अभै जो देहु ।
तौ हम काज करैं सह नेहु ॥ ७ ॥

बंधन काटि छुटावैं आसु[4] ।
मोहि तजि इनहि करहु तुम नासु ।
तब बिलार निज जीवन जानि ।
बोल्यो बानी तेहि सनमानि ॥ ८ ॥

१ समय । २ बिलाव । ३ दोनों । ४ शीघ्र ।

बन्धु कहे तुम नीके बैन।
मोहि छुड़ावहु तोहि भय है न॥
मूसक मारजार ढिग गयो।
जालहिं धीरे काटत भयो॥ ९॥

मूसहि लखि बिलार की गोद।
गये उलूक नकुल तजि मोद॥
कहत आखु अरि जलदी करहु।
बन्धन काटहु नेकु न डरहु॥ १०॥

गनपति वाहन कहै सुलच्छन।
तुमहिं बिसासे को कुल भच्छन॥
तासों समय पाय हम तात।
करब तिहारो बन्धन घात॥ ११॥

इहि विधि कहत जोलि बुधि टाटत।
लखत समय कहँ बन्धन काटत॥
जब आयो व्याधा लै दण्ड।
काल सरिस कालो वपु चण्ड[1]॥१२॥

लखि बिलार डरि बोल्यो बैन।
काटु मित्र नतु प्रान रहै न॥
तबहि काटि द्रुत[2] बिल में भागो।
तिमि बिड़ाल भागो भय पागो॥ १३॥

---

१ भयानक। २ जल्दी।

दोहा ।

मूसक बुद्धि प्रताप सों, राख्यो अपनो प्रान ।
तासों पण्डित राखियै, साधन काज महान ॥ ६ ॥
धन्य दूरदरसी मनुज, धन्य प्राप्त कालज्ञ ।
ते अधन्य संसार जे, दीरघसूत्री[1] अज्ञ ॥ ७ ॥

चौपाई ।

रह्यो गाँव मे सर इक भारी ।
बरसाकाल अगम तहँ वारी[2] ॥
जेठ मास होवै जल छीन ।
धीवर आय फसावहिं मीन ॥ १ ॥
तहँ झख[3] बसहिं अनेक प्रकार ।
विज्ञ अज्ञ जिमि जन संसार ॥
तहँ बरखा रितु बीतत जानी ।
कही दूरदरसी यह बानी ॥ २ ॥
अब इत रहन उचित नहिं भाई ।
चलहु अनत जहँ जल अधिकाई ॥
बरखा काल जात सुख पुष्ट ।
आय फँसैहै धीवर दुष्ट ॥ ३ ॥
तबहि प्राप्तकालज्ञ कहै इमि ।
अबही सों अकुलात अहो किमि ।

१ आलसी, शिथिल । २ जल । ३ मगर, मच्छ ।

जबै सबै वह या थल ऐहै।
तब करिहैं जो उचित दिखैहै॥ ४॥

कहत दीर्घसूत्री यह ऐसे।
वृथा बिचार करत सब कैसे॥
इत रहियै तजि करतब धर्म्म।
जहँ जैहैं तहँ जैहै कर्म्म॥ ५॥

कर्म लिखी सब ह्वैहै बात।
तातें करतब अनुचित तात॥
बचन दुहन के सुनि ता ठौर।
गयो दूरदरसी जल और॥ ६॥

लघुजल धीवर जाल पसारी।
फँसे मीन जे रहे दुखारी॥
प्राप्त कालवित मति दृढ़ धरि कै।
रह्यो जाल को कोन पकरि कै॥

जब धीवर सो जाल निकारी।
तजिकै कोन गयो मधि-बारी॥
मत्स्य दीर्घसूत्री मधि जाल।
इमि मूरख बिनसहिं ततकाल॥ ८॥

दोहा।

तासों दुख सुख आगमहि, देखि कीजिए काम
नातरु अति दुख होत है, सीस धुनत परिनाम॥ ९॥

मूरख ते दोउ तहँ तवै, करन चहे मुष्ग्रन्थ।
चले हरिन पण्डित लख्यो, सो लखि भग्यो अस्वस्थ॥
सो लखि भग्यो अस्वस्थ, टेरि हरि अभै दई तब।
इमि बोल्यो मृग बिहंसि, विप्र सो सुनि हवाल सब॥
मोहि दिखाउ जिमि बंध्यो, रह्यो सब कहहुँ देखि चख।
दुज तिमि क्रिय जव भग्यो, हरिन कहि भागहु मूरख॥२॥

दोहा।

इमि मृग पण्डित ने रख्यो, निज अरु द्विज को प्रान।
खुलिकै पुनि बन्धन परयो, नाहर मूर्ख प्रधान॥ १२॥

नासे खल उपकार कहँ, वस्तुहि पाय विचार।
उपकारी अनहित करत, खण्ड खण्ड निरधार॥ १३॥
दुष्ट साधु रूपहु धरै, करिय नहीं विश्वास।
तेहि विश्वासे होत दुख, वरनत गिरिधरदास॥ १४॥

चौपाई—रह्यो वृद्धवनपति[1] इक वन मे।
कुसलन चलन ताव नहिं तन मे॥
असन हेत वह करि चतुराई।
वैठा नदी निकट सठ जाई॥
कुस समेत मनिकङ्कन लै कर।
निकट पङ्क[2] अति जहँ न कढ़ै नर॥
इक दुज आवत लखि इमि बोलो।
लेहु बिप्र यह दान अमोलो॥ २॥

---

१ सिंह। २ कीच।

दुज बरनत तुम नर कहँ भच्छत।
मोहि न प्रतीति होति ढिग गच्छत॥
बोलो बाघ सांच यह भाई।
नर नाहर को किमि पतिआई॥ ३ ॥
हम तो हैं स्वभाव अघकारी।
जनमहिं सों मृग मनुज अहारी॥
पै बहु काल गयो मोहि बन मे।
मिले वशिष्ठ कृपा करि गन मे॥ ४ ॥
तिन मोहि ज्ञान दियो बर भेव।
तब सों तजो सकल अघटेव॥
अनसन[1] व्रत करि अब हम बैठे।
तुपबल परं जोति महँ पैठे॥ ५ ॥
है इक कङ्कन पास हमारे।
देत तुमहिं लखि अधन दुखारे॥
सुनि दुज अज्ञ लोभ हित धायो।
परो पङ्क तब केहरि खायो॥ ६ ॥

दोहा।

सिंह छलो विश्वास तें, विप्र परो ता मुक्ख।
यासों दुष्ट विश्वास कों, करहिं लहहिं ते दुक्ख॥१५॥
बन्धुन मे अरु नृपन मे, जैसे होय बिरोध।
सो इनको उनको करै, दुष्टहि नित यह सोध॥१६॥

1 अनाहार।

चौपाई ।

एक दीप के खग को पालक ।
रह्यो हंसवर अरिकुल घालक ॥
सो इक दिवस सभा आसीन ।
सोभ्यो पच्छिन सह बल पीन ॥१॥
तहँ बक एक आसु चलि आयो ।
हंसराज पग सीस नवायो ॥
बैठो नृप की आज्ञा पाय ।
तब तासों बोलो खगराय ॥ २ ॥
कहु बक नई देस की बात ।
बोल्यो तब वह बपु अवदात[1] ॥
अहै अपूर्व वारता एक ।
सुनहु करहु पुनि धरि नृप टेक ॥३॥
मैं देसाटन करत महीप ।
गयो लखन हित जम्बूदीप ॥
फिरत मिले तहँ के खग मोहिं ।
ते इमि बोले मो कहँ जोहिं ॥ ४ ॥
को तूं बक है कहँ सो आयो ।
तब हम अपनो हाल सुनायो ॥
महाराज को नाम बखानौ ।
तिनके देस बसत मोहि जानौ ॥५॥

---

१ श्वेत, सफ़ेद ।

तब तिन कह्यो मोहि गुन भौन ।
दोउ दीपन मे सुन्दर कौन ॥
तब हम कह्यो दीप मम जोई ।
ता सम यहँ कि छुद्र महिं होई ॥६॥
स्वर्ग अधिक मम देस रसाल ।
इन्द्र अधिक भूपाल मराल ॥
सुनि ते परम कोपि बल छाए ।
नाथ मोहिँ मारन हित धाए ॥७॥
स्वामी मोर मोर महराज ।
तेहि निन्दत पापी सिरताज ॥
कहँ को अहै हंस वह भूप ।
कौन दीप वह स्वर्ग सरूप ॥८॥
इमि कहि कै बहु विधि दै त्रास ।
मोहि ले गए मोर के पास ॥
तहँ देखे खग वृन्द सुभेख ।
सेवहिं प्रभुहिं हरहि जिमि लेख ॥९॥
गृद्ध वृद्ध इक मन्त्री तासु ।
मोहि देखि सो बोल्यो आसु ॥
रे बक, हंस भूप तुव जौन ।
मन्त्री मुख्य तासु है कौन ॥१०॥
तब हम कह्यो सुनहु खगराज ।
चक्रवाक मन्त्री सिरताज ॥

सुनि सो कहै ताहि हम जाना ।
है मम देसी कोक[1] सयाना ॥११॥

इतने में सुन बोल्यो ऐसे ।
हंसहि खगपति पदवी कैसे ॥
केकीपति[2] तुम सनमुख केकी ।
समरथ अपर भूप कहिवे की ॥१२॥

तब हम कहा कहा जग माहीं ।
एकहि होत और नृप नाहीं ॥
जौं मन मे घमण्ड अधिकाई ।
तौ मम प्रभु सो करहु लराई ॥१३॥

हँसि बोल्यो तब सो खगराज ।
कहु निज नृपहि सजै रनसाज ॥
तब हम कह्यो कहत हम जाय ।
तुमहु देहु निज दूत पठाय ॥१४॥

सुनि सो कहत मोर मति भौन ।
दूत होय तित जैहै कौन ॥
गृद्ध कह्यौ हैं दूत अनेक ।
विप्र उचित पठवन सविवेक ॥१५॥

तब सिखि[3] सुकहि[4] कह्यौ वक संग
जाय कहहु नृप चाहत जंग ॥

---

१ चकवा । २ मोर । ३ मोर । ४ तोता, सुग्गा ।

इनि सुनिकैं मयूर की बानी ।
बोल्यो कीर[1] सुनहु विज्ञानी ॥१६॥
हम जैहैं वनि दूत सुढंग ।
पै नहिं यह बक खल के संग ॥
खल को संग करै जो साधु ।
विनसै अवस विना अपराधु ॥१७॥

दोहा ।

सज्जन पावत दुःख हैं, पाप करत खल क्षुद्र ।
रावन ने सीता हरी, बाँध्यों गयो समुद्र ॥

चौपाई ।

हंस काक इक पादप ऊपर ।
रहत रहे कोउ काक न भू पर ॥
तहाँ वीर कोउ धनु सर धरे ।
सोइ रह्यो सोई तरु तरे ॥ १८ ॥
ता मुख धूप परी छिन छाय ।
निरखि हंस उर उपजी दाय ॥
पच्छ पसारि धूप दुख लोपो ।
सो लखि कै खल वायस[2] कोपो ॥ १९ ॥
खुल्यो पथिक मुख लखि विट[3] करि कै ।
भाग्यो दुष्ट महा डर धरि कै ॥

---

१ तोता । २ कौवा । ३ विष्ठा, बीट ।

सो सकोप उठि लख्यो मराल।
सर हनि हत्यो न जानत हाल ॥२०॥
तासों नहिं जैहौं बक संग।
तब हम तेहि इमि कह्यो सु ढङ्ग॥
सुक तुम मित्र कहत हौ कैसे।
तब वह हमसों बोल्यो ऐसे ॥२१॥

दोहा।

तुमरी दुर्जनता सबै, जाहिर बचन प्रताप।
जो दोउ नृपवर बैरतरु, बीज रूप हैं आप ॥१८॥

चौपाई।

तब मोहि बिदा कियो बिधि आछे।
सुकहू आवत ह्वैहै पाछे॥
यह सब बात हृदय महँ आनिय।
करिय उचित चित मे जो जानिय ॥२२॥
सुनि बक बचन गृद्ध यह बोलो।
यह खल बिग्रह[1] हित महि डोलो॥
वृथा बात में कहा लराई।
पै यह खल सुभाव प्रभुताई ॥२३॥

दोहा।

गुरु सिच्छा मानै नहीं, नहीं कोउ सों नेहु।
कलह करै बिनु बातहीं, मूरख लच्छन एहु ॥१

---

१ लड़ाई।

चौपाई ।

इतने में सो मोर पठायो ।
कीर मराल द्वार पैं आयो ॥
द्वारपाल ने नृप सों भाख्यो ।
हंसन तेहि देखन अभिलाख्यो ॥ २४ ॥
वास करायो दूजे भौन ।
मन्त्री सँग एकान्त किय गौन ॥
तहँ लाग्यो करतव्य विचारन ।
चक्रवाक तहँ कहत मुदित मन ॥ २५ ॥
प्रथम दुर्ग[1] सजि सब रनसाज ।
तब दूतहि बोलहु नरराज ॥
सुनि खगेस सारसन बुलाय ।
सजहु दुर्ग यह कह्यो बुझाय ॥ २६ ॥
तब तिन सज्यौ दुर्ग को साज ।
कह्यो तयार सबै महराज ॥
इतने में मराल के द्वार ।
आयो वायस को सरदार ॥ २७ ॥
कोटिन काक संग में लिये ।
खगपति मिलन मनोरथ किये ॥
द्वारपाल बरन्यो नृप पास ।
चह्यो बुलावन हंस अत्रास ॥ २८ ॥

---

1 किला, कोट ।

कोक कहै वह थलचर पच्छी।
नहीं विश्वास जोग परपच्छी॥
राजा कहै दूर सों आयो।
समुझि राखिहैं चहिय बुलायो॥ २९॥

तब मन्त्री बोल्यो मन भायो।
सुकहु बुलावहु दुर्ग सजायो॥
तब नृप कह्यो भृत्य[1] सों तत्र।
काक कीर दोउ लावहु अत्र॥ ३०॥

तब ते गए हंस के पास।
बोलो सुक तहँ इमि गत त्रास॥
हे हे राजहंस कुलदीप।
हुकुम करत तोहि मोर महीप॥ ३१॥

जो जीवन की इच्छा होय।
आय चरण मम वन्दहु दोय॥
जौ जमलोक जान की चाह।
तौ तजि सैन लरहु खगनाह॥ ३२॥

सुनत हंस वह महा रिसायो।
काक सुकहि तब मारन धायो॥
मन्त्री कोक धरम गुनि बरज्यो।
फिरयो दूत सुक हंस बिसरज्यो॥ ३३॥

---

१ सेवक।

भूपहि जाय कथा सब बरनी।
लग्यो मयूर विचारन करनी॥
तबै सभा महँ मन्त्री गिद्ध।
कहत हंस सो जय नहिं सिद्ध॥ ३४॥
प्रथम बलाबल सोंचि समस्त।
तब रन करै होइ अरि अस्त॥
भूप कहै मम रन उच्छाह।
भङ्ग करहु जिन पण्डित नाह॥ ३५॥
इमि कहि सोधि लगन दल संग।
चल्यो लरन हित पूरि उमङ्ग॥
लग्यो हंस को पुर नियराय।
डेरा कर्‍यो अरि आगम धाय॥ ३६॥
हंस लग्यो तब करन बिचार।
बोल्यो कोक सुनहु सरदार॥
दूर करहु काकहि मति मान।
यह रहि करिहै घात महान॥ ३७॥
सो मराल नहिं मानी बात।
राख्यो काकहि गुनी न घात॥
कहत कहहु अब चलि अरि आयो।
कीजे कहा होय मन भायो॥ ३८॥
कोक कहै जब लौं वह आय।
नहिं घेरै मम दुर्गहि धाय॥

तब लौं वीरन देहु निदेश[1] ।
बढ़ि मारैं दल रहै न सेस ॥ ३९ ॥

बोलि सारिसादिक सैनेस ।
बधहु पुरहिं दियं हंस निदेश ।
ते तब बढ़ि मयूर दल भारी ।
कियो खिन्न बहु भट बलधारी ॥ ४० ॥

दुखित मयूर गिद्ध सों बोलो ।
मन्त्री को करतव्य अमोलो ॥
गिद्ध कहै हम प्रथम बखानी ।
तब तुम साहस बस नहिं मानी ॥ ४१ ॥

ताको फल यह है महराज ।
अब का पूछत करतब काज ॥
तब बहु विनय मोर नै करी ।
गिद्ध बिहँसि बोल्यो तिहि घरी ॥ ४२ ॥

करहु न भै अरि आलसवन्त ।
जै दहैं तेहि मारि तुरन्त ॥
तासों सिघ्र साजि वर सैन ।
रोधहु दुर्ग लरहु जग्रजैन ॥ ४३ ॥

इमि ते दोऊ हंस मयूर ।
लरे समर वर रिस धर सूर ॥

---

१ आज्ञा ।

ताछन काग दुष्टता छाय।
हंस दुर्ग दिय आग लगाय ॥ ४४ ॥

तब सब उरि मराल सैनेस।
कूद कूद किय वारि प्रवेस ॥
हंस सुभाव मन्दगति आप।
चलि न सक्यो जो पावै आप[1] ॥ ४५ ॥

सारस सैनापाल सुढंग।
सोउ रह्यो राजा के संग ॥
हंस कहै तुम प्रविसहु जीवन[2]।
सारस अपनो राखहु जीवन ॥ ४६ ॥

सैनप कहै जात जहँ नाथ।
जन तन मन धन ताके साथ ॥
तुमहिं त्यागि जैहौं किमि स्वामी।
हौं[3] सदाहि को हों अनुगामी ॥ ४७ ॥

इतने मे मयूर सैनेस।
आयो कुक्कुट बली बिसेस ॥
लग्यो हंस को करन प्रहार।
सारस तेहि आयो वहु-वार ॥ ४८ ॥

वहुरि विकल लखिकै खगराई।
सेनापति कीनी चतुराई ॥

---

१ जल। २ पानी। ३ मैं।

निज पच्छन अन्तर करि हंस।
डार्‌यो सागर खग अवतंस॥ ४९॥
पुनि लरि ते सेनापति दोऊ।
महि पै परे न जीवन कोऊ॥
स्वामी हित निज त्यागी देह।
धन्य धन्य सारस बुधिगेह॥ ५०॥

दोहा।

इमि बक कीनी दुष्टता, वृथा कलह अज्ञान।
गयो हंस को राज सब, परपच्छी सनमान॥ २०॥
जो परपच्छी पुरुष को, मनुज करत बिश्वास।
सो पावत द्रुत नास है, जानहु गिरिधरदास॥ २१॥

नीचहि देइ न उच्च पद, ताकों समुझि अजोग।
नीच बढ़ावहिं जे जगत, दुख पावहिं ते लोग॥ २२॥

चौपाई।

इक मूसक लै निज मुख मीच।
उड़ो काक कोउ अंबर[1] बीच॥
ताके मुख सों मूसक गिर्‌यो।
लखि मुनि हियो दयापन थिर्‌यो॥ १॥
आखुहि पालि कियो अति पुष्ट।
इक दिन लख्यो बिड़ालहि दुष्ट॥

---

1 आकाश।

भागि सभै मुनि के ढिग आयो ।
तब तिन वाहि बिड़ाल बनायो ॥ २ ॥
इक दिन स्वान देख सो डरयो ।
तब मुनि ताकहँ कूकुर करयो ॥
सो लखि सिंह भयो भय पाय ।
तब दोनो तेहि बाघ बनाय ॥ ३ ॥
वाहि देख मुनि ढिग सब जगजन ।
इहि विधि बिहसि करहिं सब बरनन ॥
यह मूसक मुनिं सिंह बनायो ।
सो सुनि कै वह आखु रिसायो ॥ ४ ॥
इहि विघात चिंत्यो मन माहीं ।
जबलों यह मुनि मरिहैं नाहीं ॥
तबलौं जाय न यह अपवाद ।
तासों चाखहुँ मुनितन स्वाद ॥ ५ ॥
यह विचारि मुनि भच्छन धायो ।
तब तिन पुनि तेहि आखु बनायो ॥
यासों नीचहि बर पद दान ।
उचित नहीं चित गुनहु सुजान ॥ ६ ॥

दोहा ।

बहुत लोभ करिये नहीं, कीने होत बिनास ।
लालच सों दुखमूल है, बरनत गिरिधरदास ॥ २३ ॥

कुण्डलिया।

दुरमति लोभी ऊंट इक, तप विधि सों बर लीन।
ग्रीवा जोजन चार की, हरख्यो बुद्धिविहीन॥
हरख्यो बुद्धिविहीन बैठि वन के फल चाखै।
सैन करहि जब तबहि ग्रीव कन्दर महँ नाखै॥
इक दिन तामधि स्यार लग्यो गर काटन द्रुतगति।
जबलौं काढ़ैं कंठ मरो तबलों वह दुरमति॥ १॥

दोहा।

यासों लोभ करियै नहीं, जामें बिपति अपार।
लोभी को विस्वास नहीं, करै कोऊ संसार॥ २४॥

बन्धु बन्धु जहँ परस्पर, मूरख करहिं विरोध।
तहां छली परि मध्य में, हरहिं धनहिं अघसोध॥ २५।

कुण्डलिया।

मग पूआ की पोट इक परी रही बन माहिं।
द्वै सिंहन नै सो लही, झगरे अबुध तहांहिं॥
झगरे अबुध तहांहिं जौन जीतै सो पावै।
दोऊ घायल लरि परे ताव नहिं कौन उठावै॥
तिनकी लखि यह दसा आय तिन मध्य स्वान ठग।
लै भागो सो पोट परे रहि गए दोऊ मग॥ १॥

दोहा ।

सात दीप अरु सिंधु सब , मन्दर मेरु पहार ।
सेसहिं इतो न भार है , जितो कृतघ्नी भार ॥ २६ ॥
नहीं कृतघ्नी को कबहुं , मनुज करै बिस्वास ।
दुख पावत बिस्वासि कै , व्याल पालि जिमि पास ॥ २ ॥

चौपाई ।

रह्यो कृतघ्नी इक दुज दुष्ट ।
हिंसक पाप करम रत पुष्ट ॥
सो इक दिन मारत बहु जीव ।
निकरि गयो बन मे अघसीव ॥ १ ॥
तहँ इक राज हंस गुनगैन ।
दुजहि देखि यह बोल्यो बैन ॥
आपु विप्र मम धाम पधारे ।
आज अहैं धन भाग हमारे ॥ २ ॥
तातें रहहु कछुक दिन पास ।
तब ता नै नित कियो निवास ॥
हंस दुजहि भोजन करवायो ।
सब विधि मोद कियो मन भायो ॥ ३ ॥
बहु दिन रहि दुज चाह्यो जान ।
हंस देखि तब कह्यो सुजान ॥
जो इच्छा होवै सो लेहु ।
तब तुम जाहु आपुने गेहु ॥ ४ ॥

दुज बोल्यो मो कहँ धन दीजै ।
हंस कहै मन इच्छित लीजै ॥
मेरा मित्र निसाचर अहै ।
इत सो वह्न जोजन पर रहै ॥ ५ ॥
ता ढिग जाय महा धन लेहु ।
सुनि द्विज तहाँ गयो सहनेहु ॥
जाय लई मनि अपुने भार ।
आयो बहुरि हंस आगार ॥ ६ ॥
कह्यौ आजु निसि रहि तुव भौन ।
भोर मित्र मैं करिहौं गौन ॥
तब तेहि सादर राख्यो हंस ।
सोयो रैन अघीअवतंस ॥ ७ ॥
मन में बिप्र बिचार्यो ऐसे ।
असन बिना मग कटिहौं कैसे ॥
है यह खग सुमांस अरु पुष्ट ।
इमि बिचार तेहि मार्यो दुष्ट ॥ ८ ॥
चल्यो प्रात ले धन की मोट ।
मृतक हंस सह ब्राह्मण खोट ॥
तहाँ मराल लख्यो निजिचारी ।
आय मित्र की दशा निहारी ॥ ९ ॥
जानि मित्र पापी को करम ।
मग तेहि जाय हन्यो गुन धरम ॥

किये विलाप मित्र हित भारी ।
आयहि सहा आये पविधारी[1] ॥ १० ॥

दोहा ।

मरा मरानि भरा[2] परा गालाग दुष्ट समेत ।
गरत हंसनि रावसहि, मित्र धम्म धुर हेत ॥ २८ ॥

चौपाई ।

अमृत डारिकै हंस जिवायो ।
उठि निसिचर को कंठ लगायो ॥
मृतक विप्र लखि बोल्यो ऐसे ।
द्विज मम सखा मरयो यह कैसे ॥ ११ ॥
बहु प्रकार वासव[3] सों कही ।
तब तिन द्विजहि जिवायो सही ॥
उठ्यो विप्र लखि हंस सुजान ।
आह लाय किय रुदन महान ॥ १२ ॥
कीनो विदा पूजि बहु सोय ।
आयो गृह द्विज लज्जित होय ॥
तब सक्रादिक सबै सुरवृन्द ।
कही हंस की जै सानन्द ॥ १३ ॥

दोहा ।

हंस इती नेकी करी, तऊ विप्र अघ कीन ।
याही सो न कृतघ्नि को, विस्वासहिं मतिपीन ॥ २९ ॥

---

1 राजा इन्द्र । 2 पृथ्वी । 3 राजा इन्द्र ।

द्रुज दुरजन अनहित करयौ, मस्तक छेदन जोग ।
खग सज्जन हितही करयौ, धन धन सज्जन लोग ॥ ३० ॥

मूरख सिच्छा ना करिय, कबहुँ सुबुध मन सोध ।
हित बातहिं मानै नहीं, उलटी करहि विरोध ॥ ३१ ॥

चौपाई ।

रह्यौ महा बट तरु बन माहीं ।
निवसहिं खग रचि नीड़[१] तहाहीं ॥
एक समय बरषा के काल ।
भई बिपिन मे वृष्टि बिसाल ॥ १ ॥
ता तरु पै कपोत[२] बहु तोते ।
रहे मुदित खोते महँ सोते ॥
वानर वृन्द अबुध बिन धाम ।
इत उत फिरत न सुखमय ठाम ॥ २ ॥
खड़े भए तहं तरु ढिग आय ।
कम्पित गात दुखी समुदाय ॥
सो लखि दया पच्छियन लागी ।
बोले वचन कपिन अनुरागी ॥ ३ ॥
वानर तुम मृग मण्डन सुच्छ ।
नर सम बिग्रह अधिकौ पुच्छ ॥
किमि ऐसे वन फिरत बिहाल ॥
नहिं घर बिरचत सुख सब काल ॥ ४ ॥

---

१ घोंसला, खोता । २ कबूतर ।

देखहु हम खग सब विधि हीन ।
चोंचन तृन बटोरि घर कीन ॥
तासों कोउ विधि धाम बनाय ।
सुख सों निवसहु दुख सब जाय ॥५॥
सुनि मूरख कपि हित नहिं माने ।
हँसी करत समुझे रिसियाने ॥
बरसा काल बिगत सठ धाए ।
तोडि खगन के नीड़ गिराए ॥६॥

दोहा ।

तासों मूर्ख न सिच्छियै, उलटो करत बिगार ।
नास्तिक हित उपदेश सों, खण्डन हेत तयार ॥३१॥

विदुरनीति*

दोहा ।

कर्म लिखी सो होय है, यह सम्मति निर्धार[1] ।
पै अपने भरिसक करिय, कुल रच्छन व्यवहार ॥१॥
तासों चित दे सुनहु नृप, राजनीत सह प्रीति ।
पुनि मन इच्छत कीजियो, जिमि न होय अरिभीति[2] ॥२॥

---

* बाबू गोपालचन्द्र लिखित ।

१ निर्धारण, निश्चय, निर्णय । २ शत्रु का भय ।

जो नृप बूझि बलाबलहि, करत समर[1] अरु साम[2]।
सो पावत सुख जगत में, नातरु दुख परिनाम ॥३॥
कोउ काज आरम्भिए, करिये प्रथम बिचार।
सब प्रकार दृढ़ समुझि तब, तेहि करिये निर्धार ॥४॥
राजा सोहत राज सों, सोहत नृप सों राज।
बन बनपति[3] सों सोहतो, बन सों बनपति आज ॥५॥
कुतसित नृप को सङ्ग लहि, पावत प्रजा बिनास।
गोहूं सङ्ग घुन पिसत जिमि, बरनत गिरधरदास ॥६॥
नरपति नसत कुमन्त्र[4] सों, साधु कुसंगहि पाय।
बिनसत सुत अति प्यार सों, द्विज बिन पढे नसाय ॥७॥
बारनारि[5] लज्जा सहित, लाज रहित कुलनारि।
द्विज अतुष्ट सन्तुष्ट नृप, ए सब नष्ट बिचारि ॥८॥
मन्त्रवान विष एक कों, नासत किए प्रयोग।
नसत देस सब आसुही[6], नृप कुमन्त्र के जोग ॥९॥
सोखत पोखत जलहि जिमि, समय पाय कै सूर[7]।
तिमि प्रजान बरतै नृपति, दोउ दिसि सुख भरपूर ॥१०॥
करै न बंधु बिरोध कों, विपति जान परिनाम।
बंधु बैर रावन मरयो, सो नृप होय न छाम ॥११॥
आमद सों कमती खरच, राखै समुझि नृपाल।
सो अति सुख पावै सुमति, बाढ़ै कोस बिसाल ॥१२॥

---

१ संग्राम। २ संधि, मेल-मिलाप। ३ वनस्पति। ४ खोटी सम्मति। ५ वेश्या, गणिका। ६ शीघ्रही। ७ सूर्य।

जौ अरि[1] प्रबल निहारियै, मिलि जैयै हित होय ।
समै पाय तिहि नासियै, बलि वासव[2] गति जोय[3] ॥१३॥
अरि अरि कों लरवाय कै, लखिय तमासा आप ।
तिनके विनसे जाय दुख, जिमि विन प्राच्छित पाप ॥१४॥
पावक वैरी रोग रिन, सेसहु राखिय नाहिं ।
ए थोड़े हु बढ़हिं पुनि, महा जतन सों जांहि ॥१५॥
कुल राखिय तजि एक कों, कुल तजि राखिय ग्राम ।
देस हेत ग्रामहि तजिय, आतम हित सब ठाम ॥१६॥
अब बरनत नृप आदि के, लच्छन कुरुकुलदीप ।
भलो बुरो जाने जतन, जाहि जतन अवनीप ॥१७॥

राजा लक्षण ।

सावधान निज राज मे हित अनहित पहिचान ।
पर छिद्रहि जो लखत सो, नृपसत्तम[4] बुधिवान ॥१८॥
अलस[5] प्रमादी[6] राग रति, नीत न देखत जौन ।
उर एद[7] असद्र[8] विवेक नहिं, अधम अवनिपति तौन ॥१९॥

मन्त्री लक्षण ।

स्वामीहित इच्छा सहित, सावधान सब कार ।
राखै प्रजा समोद सो, मंत्रिन को सरदार ॥२०॥
जो लालच भय भीरु सठ, स्वामी हितहि न चाह ।
सो मन्त्रिन मे अधम तेहि, नहि राखै नरनाह ॥२१॥

१ शत्रु । २ राजा इन्द्र । ३ देख कर । ४ राजा । ५ अति उत्तम, श्रेष्ठतम । ६ आलसी । ७ असावधान । ८ भला । ९ बुरा ।

सेनापति लक्षण ।

शस्त्र शास्त्र जानै सबै, व्यूहादिक[1] मे दच्छ[2] ।
स्वामी हित इच्छत सोई, सेनपाल है स्वच्छ ॥२३॥
हृदय भीरु जानै नहीं, आयुध[3] को व्यवहार ।
सो सेनापति अधम तेहि, नहि राखै सरदार ॥

सूर लक्षण ।

वीर वली दुसमन समन; मुरै न शत्रु हजूर ।
तृनसम असु[4] जसु[5] रतन सम; जो समझै सो सूर ॥२४॥

कादर लक्षण ।

समरसत्र सन्मुख निरखि, तकै भीत[6] भरि नैन ।
सो कादर संसार मे, आदर जोग अहै न ॥२५॥

कामदार लक्षण ।

जतन करत नित उदय को, स्वामी सुखद अनंत ।
जल धन धरन वढावतो, कामदार वुधिवन्त ॥२६॥
निज हित चाहत पापमति, आलस स्वामी काम ।
नासै वित्त[7] विचार विन कामदार अघधाम ॥२७॥

दानाध्यक्ष लक्षण ।

धर्मवन्त लालच रहित, पण्डित मूर्ख विवेक ।
दानाध्यच्छ प्रधान सो, चहै भूप को नेक ॥२८॥

---

१ सेना का क्रम से सजाना इत्यादि । २ दक्ष, चतुर । ३ शस्त्र । ४ प्राण । ५ यश, कीर्ति । ६ भय, डर । ७ धन ।

अविवेकी कतही कुटिल, मूरख लालचवन्त ।
ऐसो दानाध्यक्ष नहीं, करहिँ चतुर छितिकन्त[1] ॥ २९ ॥

उपरोहित लक्षण ।

वेदविज्ञ पण्डित सुघर, धरमशास्त्र सम्पन्न ।
नृपहित चतुर विवेकमय, सो उपरोहित[2] धन्न ॥ ३० ॥
मूरख धर्म विवेक नहिं, निजपूजा सों काम ।
सो उपरोहित अधम है, वंचक[3] ताको नाम ॥ ३१ ॥

दूत लक्षण ।

वाकचतुर बुधिमान् वर, कहै यथारथ जौन ।
गिरिधरदास बखानियै, दूत सिरोमनि तौन ॥ ३२ ॥
भय सों स्वामिसँदेश जो, कहि न सकै पर पास ।
अपटु[4] लालची दूत सो, तजिये गिरिधरदास ॥ ३३ ॥

सेवक लक्षण ।

चेष्टा[5] में मन को गुनै, करै अचल ह्वै काज ।
ऐसो सेवक चाहिए, सुखी होय नरराज ॥ ३४ ॥
प्रभु इच्छा बूझै नहीं, करै और की और ।
सो सेवक मे अधम है, धूर्तन को सिरमौर ॥ ३५ ॥

सारथि लक्षण ।

परसर[6] वारै[7] चालि रथ, शत्रु दाहिने होय ।
आपुहि रथिहि बचावई, श्रेष्ठ सारथी सोय ॥ ३६ ॥

---

१ राजा । २ पुरोहित । ३ ठग । ४ मूर्ख । ५ प्रयत्न, उद्योग, काम ।
६ शत्रुओं के वाण । ७ निवारै, दूर करै ।

जो रनभीरु अबूझ गति, करि न सकत वस मीच।
वारि सकत परघात[1] नहि, तौन सारथी नीच॥ ३७॥

वैद्य लक्षण।

वृद्ध होय सुन्दर सहृय, आयुर-वेद निधान।
देस काल आकृत गुनै, सो है वैद प्रधान॥ ३८॥
नहिं निदान[2] जाने कछू, नहिं जानै उपचार।
वृथा तर्क करि असु हरै, अधम वैद्य निरधार॥ ३९॥

गवैया लक्षण।

जानै राग विभेद अरु, सुर तालादिक ज्ञान।
सचमन मोहित विधि धरे, गायक सोइ सुजान॥ ४०॥
राग रूप जानै नहीं, नहिं सुरताल मिलाप।
सो गायक महँ अधम है, निज इच्छा आलाप॥ ४१॥

कवि लक्षण।

अलंकार रस नायका, छन्द लक्षणा व्यंग।
जो जानै प्रस्तार सब, सो कवि गुनिय सुढंग॥ ४२॥
छन्द रीति ना जानई, नहि साहित को ज्ञान।
निज इच्छित कविता रचै, सो कवि अधम प्रमान॥ ४३॥

ज्योतिषी लक्षण।

ज्योतिष विद्या में निपुन, प्रश्न बखाने सत्त।
गणित किये हस्तामलक, जो जोतिषी महत्त॥ ४४॥

---

१ शत्रुओं का आघात। २ रोग का मूल कारण। ३ चिकित्सा, इलाज

नहीं गणित सिद्धान्त नहिं, जानै प्रश्न विधान
है नक्षत्र-सूची सोई, अधम ज्योतिषी जान ॥ ४५ ॥

पण्डित लक्षण ।

सास्त्र विसारद चलन जग, सास्त्र उक्त व्यवहार
जानत आगम निगम सब, सो पण्डित निरधार ॥ ४६ ॥

मूर्ख लक्षण ।

हित अनहित बूझै नहीं, पढ़्यो न सास्त्र कुचाल ।
करत काज आतुर अपटु, सो है मूर्ख विसाल ॥ ४७ ॥

लेखक लक्षण ।

प्रकृत[1] कहै सारथ गुनै, दिव्य पंक्ति पर लेख ।
सो उत्तम लेखक अहै, सास्त्र निपुन सुचि भेख ॥ ४८ ॥
अर्थ न जानै शब्द को, लिखै प्रमादी होय ।
अच्छर सुन्दरता नहीं, लेखक निन्दित सोय ॥ ४९ ॥

गुरु लक्षण ।

सकल सास्त्र सारहि गुनै, लोभ रहित व्यौहार ।
सिष्य हितहि चाहै सदय, सदगुरु सो निरधार ॥ ५० ॥
सिष्य धनहि चाहै हरन, नहिं विवेक नहिं ज्ञान ।
बूड़ै चेला सङ्ग लै, सो गुरु अधम प्रमान ॥ ५१ ॥

शिष्य लक्षण ।

गुरु बानी बिस्वास दृढ़, विसन रहित मतिमान ।
गुरु सेवा निस दिन करै, शिष्य सोइ सज्ञान ॥ ५२ ॥

---

१ यथार्थ, ठीक, स्पष्ट, ज्यों का त्यों ।

नहि गुरु बचनहि आदरै, श्रद्धा गुरु मे नाहिं ।
नहिं जानै करतव्य सो, शिष्य अधम जग माहिं ॥ ५३ ॥

आस्तिक लक्षण ।

बेद शास्त्र विश्वास अरु, गुरु को बचन प्रमान ।
चले रहनि लै साधु की, सो आस्तीक प्रधान ॥ ५४ ॥

नास्तिक लक्षण ।

श्रुति शास्त्रन खण्डन करै, करि कुतर्क बहु मूढ़ ।
निज इच्छत पथ चलत सो, नास्तिक अघ आरूढ़ ॥ ५५ ॥

बन्धु लक्षण

नरपति हित चाहै सदा, देत सबै थल संग ।
नहिं लालच नहिं छल सोई, उत्तम बन्धु सुढंग ॥ ५६ ॥
मिल्यो रहत निज प्राप्ति हित, दगा समय पै देत ।
बन्धु अधम तेहि कहत हैं, जाको सुख पै हेत ॥ ५७ ॥

स्त्री लक्षण ।

रूपवती लज्जावती, शीलवती मृदु बैन ।
तिय कुलीन उत्तम सोई, गरिमाधर[1] गुण ऐन ॥ ५८ ॥
अति चञ्चल नित कलह रुचि, पति सों नाहि मिलाप ।
सो अधमा तिय जानियै, पाइय पूरन पाप ॥ ५९ ॥

पुत्र लक्षण ।

पितु आज्ञा तत्पर सदा, चलत आप कुल चाल ।
पण्डित विज्ञ[2] विनीत[3] सो, उत्तम सुत नरपाल ॥ ६० ॥

---

१ बड़ाई रखनेवाली । २ प्रवीन । ३ नम्र, सुशील ।

जनक वचन निदरत निडर , वसत कुसंगति माहिं ।
गूरख सो सुत अधम है , तेहि जनमें सुख नाहिं ॥ ६१ ॥

मित्र लक्षण ।

सुख दुख अति विग्रह विपति , यामे तजै न संग ।
गिरिधरदास बखानिये , मित्र सोई वरढंग[1] ॥ ६२ ॥
सुख में संग मिल सुख करै , दुख में पाछो होय ।
निज स्वारथ की मित्रता , मित्र अधम है सोय ॥ ६३ ॥

सुहृद लक्षण ।

आपु करै उपकार अति , प्रति उपकार न चाह ।
हियरा कोमल संत सम , सुहृद सोइ नरनाह ॥ ६४ ॥

सज्जन लक्षण ।

मन सों जग को भल चहै , हिय छल रहै न नेक ॥
सो सज्जन संसार मे , जाको विमल विवेक ॥ ६५ ॥

दुर्जन लक्षण ।

बिन कारन संसार सों , वैर करै अवपुष्ट ।
सुख मानै परहानि में , सो है दुरजन दुष्ट ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण लक्षण ।

सम[2] दम[3] त्याग[4] विराग तप[5], सीलवन्त श्रुतिवन्त[6] ।
ज्ञान जुक्ति सों जुक्त जो , सो द्विज द्विज कुल कन्त ॥ ६७ ॥

---

१ अच्छे ढगवाला । २ मन का शमन । ३ इन्द्रियों का दमन । ४ धन अच्छे काम में व्यय करना । ५ मानसिक और शारीरिक परिश्रम । ६ वेदपाठी ।

दम्भजुक्त पाखण्डमय, संध्या कर्म विहीन।
विप्र अधम सो जानियै, मारन आदि प्रवीन ॥ ६८ ॥

चत्री लच्चण।

दानधीर रनधीन पुनि, आस्तिक वर धर्मिष्ट[1]।
तेज सूरता जस सहित, सो चत्रिन में सिष्ट[2] ॥ ६९ ॥
रन कायर मिथ्यावचन, मिथ्या हिंसक जौन।
नीति अपटु चत्रीन मे, अधम जानियें तौन ॥ ७० ॥

वैश्य लच्चण।

धनी चतुर व्यवहार मे, शास्त्र निपुण मतिवन्त।
सत आदर कर्त्ता सुरुचि, वैश्य सोई बुधकन्त ॥ ७१ ॥
नहिं जानत व्यवहार जो, नहीं शास्त्र मे नेहु।
छल कर पर धन हरन रत, वैश्य अधम गुन लेहु ॥ ७२ ॥

शूद्र लच्चण।

सेवा तीनहुँ बरन की, करै अछल चित होय।
जथालाभ प्रिय लोभहत, शूद्र श्रेष्ठ है सोय ॥ ७३ ॥
अपनो धरमहिं त्यागि सठ, वृथा विडम्बन और।
नहीं देव द्विज भक्ति सो, शूद्र अधम सिर मौर ॥ ७४ ॥

ब्रह्मचारी लच्चण।

गुरु आज्ञा तत्पर[3] सदा, विद्या वर अभ्यास।
श्रेष्ठ ब्रह्मचारी सोई, बरनत गिरिधरदास ॥ ७५ ॥

---

१ धर्म में श्रद्धा रखने वाला। २ श्रेष्ठ। ३ अनुरक्त, आसक्त।

नहिं गुरु की आज्ञा करै, नहिं विद्या अभ्यास ।
ब्रह्मचारी सो अधम है, चहै सुभोजन वास ॥ ७६ ॥

गृहस्थ लक्षण ।

देव पितर ऋषि अतिथि द्विज, पूजै सहित विवेक ।
उत्तम सोइ गृहस्थ है, गृह लम्पट नहिं नेक ॥ ७७ ॥
नहिं पूजत सुर पितर अरु, द्विज अतिथिहि नहिं देय ।
सदा रक्त[1] तिय सुतन मे, अधम गृही है सेय ॥ ७८ ॥

वानप्रस्थ लक्षण ।

बन निवास आचरन सह, फल मूलादि अहारु ।
नहीं करै फल वासना, वानप्रस्थ सो चारु ॥ ७९ ॥
रहत विपिन गृह चित रम्यो, नहिँ बस जीभ उपस्थ ।
वानप्रस्थ सो नष्ट है, जासु नहीं मन स्वस्थ ॥ ८० ॥

संन्यासी लक्षण ।

ब्रह्म रूप ब्रह्महिं जपत, ममता मोह विहीन ।
सो संन्यासी श्रेष्ठ है, उदासीन मतिपीन ॥ ८१ ॥
इच्छा डोलत बहु फलहिं, नहिं उर आनत ज्ञान ।
सो संन्यासी नष्ट है, ता हित नर्क महान ॥ ८२ ॥
इमि सुनि छत्ता[2] के बचन, बोल्यो प्रज्ञानैन[3] ।
और नीति बरनहु विदुर, चारि वरन सुखदैन ॥ ८३ ॥

---

१ अनुरक्त, आसक्त । २ विदुर । ३ धृतराष्ट्र ।

तबहिं बिदुर निर्नीत चित[1], सब बिधि धर्म सरूप ।
बिहँसि बचन बोलत भये, सुनिए कुरुकुलभूप ॥ ८४ ॥
उद्यम कीजै जगत मे, मिले भाग्य अनुसार ।
मोती मिलै कि संख कर[2], सागर गोता मार ॥ ८५ ॥
बिन उद्यम नहिं पाइये, कर्म लिख्यौहू जौन ।
बिन जल पान न जायहै, प्यास गङ्गतट भौन ॥ ८६ ॥
उद्यम हित आलस्य करि, बसै संग तव ग्राम ।
हित सों हित करि सुख लहै, अरिसौं हित मतिबाम ॥ ८७ ॥
उद्यम मे निद्रा नहीं, नहिं सुख दारिद माहिं ।
लोभी उर संतोष नहिं, धीर अबुध मे नाहिं ॥ ८८ ॥
संन्यासी उद्यम सहित, उद्यम रहित महीप ।
ए तीनहुँ हैं नष्ट जग, पवन सोंह को दीप ॥ ८९ ॥
धन उपारजन कीजिए, बिनसहिं दोष अनेक ।
विद्यावन्त कुलीन सब, भजहिं धनहिं करि टेक ॥ ९० ॥
सून सदन सन्तान बिन, दिसा बन्धु बिन सून ।
जीवन सूनो बिन पढ़े, सरब सून धन ऊन ॥ ९१ ॥
सुमति धर्म आचार गुन, मान लाज व्यवहार ।
ये सब जात दरिद्र सों, समझहु नृपति उदार ॥ ९२ ॥
सुख दरिद्र सों दूर है, जस दुर्जन सों दूर ।
पथ्य चलन सों दूर रुज, दूर सीतलहि सूर ॥ ९३ ॥

---

१ निश्चित है चित्त जिसका अर्थात् जिनके चित्त ने समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त को निर्णय कर लिया है । २ हाथ ।

धनहि राखिए बिपति हित, तिय राखिय धन त्यागि ।
तजिए गिरिधरदास दोउ, आतम के हित लागि ॥ ९४ ॥

सधन होय कै अधन पै, सुबुध तजै नहिं धीर ।
चिन्ता कोउ विधि ना करै, उर राखै बल बीर ॥ ९५ ॥

चिता अधिक चिन्ता अहै, दहै देह सब काल ।
यासों चिन्ता ना करिय, धरिय धीर हर हाल ॥ ९६ ॥

चिन्ता जर है नरन कों, पट जर रवि नभ सोय ।
जर गृहस्थ को बाँझपन, तिय जर कन्त अछोह ॥ ९७ ॥

करत क्रोध जो बूझ बिन, पाछे पावत ताप ।
तासों क्रोध न कीजिए, नीति बिचच्छन[1] आप ॥ ९८ ॥

उचित लोभ अप्रमान नहिं, कीने होत बिनास ।
लालच सब दुख मूल है, बर्णत गिरिधरदास ॥ ९९ ॥

लोभ सरिस अवगुन नहीं, तप नहिं सत्य समान ।
तीरथ नहिं मन शुद्धि सम, विद्या सम धन जान ॥ १०० ॥

लघुपन कृसपन कुटिलपन, कहुँ कहुँ नीको जान ।
दंत कमर कच[2] में जथा, जाहिर चारु जहान ॥ १०१ ॥

जामे गुन अवलोकिये, करिय ताहि स्वीकार ।
बाल बचन हूँ करिय जो, होय नीति अनुसार ॥ १०२ ॥

सब जीवन के गुनन को, देखि करिय स्वीकार ।
अवगुन त्यागिय करहिं बुध, तरु तजि फल आहार ॥ १०३ ॥

---

१ विचक्षण, निपुण, चतुर । २ केश ।

वर सम्बन्ध कुलीन सों, रूपवंत कहँ त्यागि।
तजि नृप द्विज पुत्रहिं वरैं, द्विज कन्या अनुरागि॥ १०४॥
करिय बराबर मनुज सों, बैर ब्याह व्यवहार।
घट बढ़ मे रस ना रहै, समुझहु नर-भरतार॥ १०५॥
जेते जग में मनुज हैं, राखैं सब सों हेत।
को जानै केहि काल मे, किय काको संग देत॥ १०६॥
सकल वस्तु संग्रह करै, आवै कोउ दिन काम।
बखत परे पै ना मिलै, माटी खरचे दाम॥ १०७॥
जे विचार बिन करत हैं, ते पाछे पछितात।
तासों काज विचारि कै, तबहि कीजिए तात॥ १०८॥
कारज करिय विचारि कै, कर्म लिख्यो सोइ होय।
पाछे उपजै ताप नहिं, निन्दा करै न कोय॥ १०९॥
महा विटप कों सेइयै, सुख उपजत अवनीस।
जो न दैव बस फल मिलै, छाँह रहै तौ सीस॥ ११०॥
पुन्य करिय सो नहिं कहिय, पाप करिय परकास।
कहिबे ते दोउ घटत है, बरनत गिरिधरदास॥ १११॥
असन उचित सत[1] काज तजि, सहस त्यागि असनान।
लाख काज तजि दान दे, कोटि त्यागि हरि ध्यान॥११२॥
सुन्दर दान सुपात्र को, बढ़ै सुक्ल ससि तूल।
आछे खेतहि बीज जिमि, उपजत आनँद मूल॥ ११३॥

---

१ सौ।

होमो दान कुपात्र कों, विद्या मूढ़हि दीन ।
क्रोधी मैं होमों करहि[1], फलीभूत नहिं तीन ॥ ११४ ॥
श्राद्ध हीन तिल मंत्र के, यज्ञ हीन बिन दान ।
हीन सुवर्ण भाव बिन, दान हीन बिन मान ॥ ११५ ॥

कंकन नूपुर पान सों, नहिं कर पद मुख सोह ।
दान शील शुचि भजन सों, सोहत सुख अन्दोह ॥ ११६ ॥
बाट कविता मठ पुत्र धन, कूपादिक निरमान ।
इन सों नर को रहत है, जाहिर नाम जहान ॥ ११७ ॥

धन है जैसो करिय तस, छल करि सठ हठ ऐन ।
कूर विनय सों करिय वस, सूरहिं कहि सत[2] वैन ॥ ११८ ॥
कुल गुनियें आचार लखि, गुनिय वचन सों देस ।
भोजन लखि कै धन गुनिय, पटुता लखि कै वेस ॥ ११९ ॥

भय लज्जा गुन चतुरता, धर्म शील नहिं जत्र ।
पण्डित पुरुष विचारि कैं, वास करै नहिं तत्र ॥ १२० ॥
नृप सज्जन पण्डित धनी, नदी वैद्य निज जात ।
ए जा पुर में होहिं नहिं, तहां न बसिए रात ॥ १२१ ॥

राजा संग अरु चोलिबो, पन्नग को खिलवार ।
सरि[3] तरिबो नित प्रति तृषा, दिन दिन विपति अपार ॥१२२॥
सत्य सुमति धीरज धरम, बंधु मित्र सुत नारि ।
आपद में परखिय इनहिं, गिरिधरदास विचारि ॥१२३॥

---

१ होम करने की सामग्री । २ उत्तम । ३ नदी ।

तिय सुत सेवक शिष्य गुन, यदपि प्रसंसा योग।
तदपि प्रसंसहिं ताहि नहिं, ता सन्मुख बुध लोग ॥ १२४
गिरिधरदास विचारि उर, तीनहिं बोरिय नीर।
धनी सूम निर्धन अतप[1], विद्यावंत अधीर ॥ १२५ ॥
तरवर फूल्यो विपिन मे, मित्र उदय परदेस।
ए दोउ काम न आवहीं, समुझहु सत्य नरेस ॥ १२६
सुहृद बंधु परदेस में, धन ताला के माहिं।
विद्या पुस्तक मध्य ए, समय सम्हारै नाहिं ॥१२७॥
मित्र सोइ जहँ कपट बिन, वन्धु सोई हित होय।
देश सोइ जहँ जीविका, मन रुचि कर तिय सोय ॥१२८
द्वै पावक तन दहन गुनि, तजै सुबुध करि सोध।
निर्धन को बहु कामना, निरबल को बहु क्रोध ॥ १२९
यज्ञ असत सो नास है, राज कुमति सो नास।
नास कहे सो दान फल, पूजन विन विस्वास ॥ १३० ॥
जासु राज सो नृप जियत, गृही जियत तियवन्त।
जेहि विद्या सो नर जियत, सदा जियत जसवन्त ॥१३१॥
नृपति मृतक बिन राज को, विप्र मृतक बिन कर्म।
धन बिन मृतक गृहस्थ है, जती मृतक बिन धर्म ॥ १३२ ॥
खेती जल बिन नष्ट है, जियत नष्ट तन कष्ट।
प्रजा नष्ट राजा विना, नृप मंत्री बिन नष्ट ॥ १३३ ॥

---

१ अतपस्वी, अपरिश्रमी, अनुद्योगी।

सैन नष्ट बिन वीर के, वीर नष्ट बिन धीर ।
धीर नष्ट उत्तालपन, ताल नष्ट बिन नीर ॥ १३४ ॥
नगर नष्ट सरिता बिना, धाम नष्ट बिन कूप ।
पुरुष नष्ट बिन शील के, नष्ट नारि बिन रूप ॥ १३५ ॥
नष्ट रूप वरवसन बिन, नष्ट असन बिन लौन ।
नष्ट सुमति बिन राजगृह, नष्ट बास बिन भौन ॥ १३६ ॥
राज मंत्र अरु मंत्र जपु, नींद एकाकी होय ।
मिष्ट खान में गान में, पथहि उचित नर दोय ॥ १३७ ॥
प्रजा मूल राजा अहै, जनम मूल है कर्म ।
प्रकृति मूल संसार है, छमा मूल है धर्म ॥ १३८ ॥
क्षमापतिहि भूपन क्षमा, नर भूषन सतसंग ।
कुल भूपन मिल के रहन, मद भूषन मातंग ॥ १३९ ॥
सूर काम सूरहिं करै, करै न क्रूर घमण्ड ।
स्यार हजारहु सिंह बिन, गज सिर सकै न खण्डि ॥ १४० ॥
नाहर भूखो रोग बस, वृद्ध जदपि तन छीन ।
तदपि द्विरद[1] मरदन चहत, सूर होहि नहिँ दीन ॥ १४१ ॥

कवित्त ।

मनुज की सोभा पण्डिताई ते रहित है न,
सोभा पण्डिताई की सभा बिना न पाई है ।
गिरिधरदास भूप बिना सोभा है न भूमि की,
भूप की न सोभा बिनु बुद्धि के सदाई है ।

---

१ हाथी ।

बुद्धि की न सोभा दयारहित जगत बीच,
दया की न सोभा जहाँ तुमुल[1] लराई है ।
सोभा न लराई की है सूर भरपूर बिन,
सोभा नहि सूर की गरूर बिन गाई है ॥ १४२ ॥

दोहा ।

लाख मूर्ख तज राखिये, इक पण्डित बुधि धाम ।
सोभा इक है हंस सों, लाख काक किहि काम ॥ १४३ ॥
राजा पण्डित तुल्य नहिं, जानहु नर-सिरताज ।
पण्डित पूज्य जहान में, नृपति पूज्य निज राज ॥ १४४ ॥
तब लौं मूरख बोलहीं, जब लौं पण्डित नाहिं ।
जब लौं रवि नभ नहिं उदय, तब लौं नखत[2] देखाहिं ॥१४५॥
वारन[3] को भूषन वृथा, सिंहहि भूषन व्यर्थ ।
तिमि पण्डित अरु मूरखहिं, भूषन व्यर्थ समर्थ ॥ १४६ ॥
हंस न वक में सोहई, तुरग न रासभ[4] माहिं ।
सिंह न सोहै स्यार मे, विज्ञ मूर्ख में नाहिं ॥ १४७ ॥
दर दर होत न गज तुरग, हंस न सर सर माहिं ।
नर नर होत सुरूप नहि, घर घर पण्डित नाहि ॥ १४८ ॥
पण्डित गति विद्या जगत, रवि गति सैल[5] अलोक ।
तियगति पति सरिगति उदधि, सबगति हरिगति ओक[6] ॥१४९॥

---

१ गहरी, बड़ी भारी । २ नक्षत्र, तारे । ३ हाथी । ४ गदहा । ५ पहाड़ । ६ गति का स्थान ।

जोवन रूप अनूप सब, विद्या विनु सोहै न ।
जथा अनारू फल लखिय, सुन्दर पै रस है न ॥ १५० ॥
विद्या भूषन मनुज कहँ, तिय भूषन अनुभाव ।
संन्यासी भूषन क्षमा, पुरभूषन उमराव ॥ १५१ ॥

धन तें विद्या धन बड़ो, रहत पास सब काल ।
देइ जितो बाढ़ै तितो, चोर न लेइ नृपाल ॥ १५२ ॥
शत्रु नहीं कोउ रोग सम, सुत सम नहिं कोउ प्रीत ।
भाग सरिस कोउ वल नहीं, विद्या सम नहिं मीत ॥ १५३ ॥

विद्या होवै नीच पै, लीजै विना विचारु ।
धन कठोर सों लीजिए, घट-कुल सों तिय चारु ॥ १५४ ॥
द्विज बिन विद्या के वृथा, घृत बिन असन वृथाहिं ।
वृथा अभूषन वसन बिनु, तिय बिन गृह जगमाहिं ॥१५५॥
विद्या बिना विवेक के, वहु उद्यम बिनु अर्थ ।
धर्म विना वैराग्य के, मनुज वुद्धि बिन व्यर्थ ॥ १५६ ॥
वुद्धि सरिस कोउ वल नहीं, सुमति सरिस नहिं मित्र ।
विद्या नहिं अध्यात्म सम, ज्ञान सरिस नहिं मित्र[1] ॥१५७॥

वीद्यावन्तहि चाहिए, पहले धर्म विचार ।
तासों दोऊ लोक को, सधत सुद्ध व्यवहार ॥ १५८ ॥
विद्यावन्त सुसील जो, धर्मवन्त मति धीर ।
सोइ पण्डित संसार में, सुजन रत्न वलवीर ॥ १५९ ॥

---

१ नेत्र, नयन ।

सज्जन को सन्तोष धन, नृप धन सैन महान ।
तिय को धन पिय जगत मे, धन धन वैस्य प्रमान ॥ १६० ॥
आवत अतिहित आदरत, बोलत वचन विनीत ।
जिय पर उपकारहि चहत, सज्जन की यह रीत ॥ १६१ ॥
सज्जन माहिं दयालुता, चञ्चलता तिय माहिं ।
सठहि क्रूरता द्विजहि तप, सहज धरम[1] ए आहिं ॥ १६२ ॥
सज्जन तजै न साधुता, करै कोऊ विपरीत ।
पग डारतहूँ गङ्ग जल, विमल करै यह रीत ॥ १६३ ॥
सज्जन संग अनहित करै, ते हित करैं निदान ।
जैसे भृगु मारयो चरन, उर धारयो भगवान ॥ १६४ ॥
तन अनित्य संगी धरम, प्रभु जगकर्त्ता सोय ।
तीन बात जो जानई, तासों खोट न होय ॥ १६५ ॥
सब परतिय जिहि मातु सम, सब परधन जिहि धूर ।
सब जीवन निज सम लखै, सो पण्डित भरपूर ॥ १६६ ॥
सुद्ध नीर है तक्र[2] मे, सुद्ध पाट में नील ।
सुद्ध चर्म है बाघ को, नर मे सन्त सुसील ॥ १६७ ॥
धनी सुपच[3] परसे असुचि, पूजिय निरधन सन्त ।
खर न पूज्य मनि भूखितहु, पूज्य गऊ मलवन्त ॥ १६८ ॥
छोटे में अघ लगत है, बड़ं अनघ अविरुद्ध ।
असुचि छुए घट जल असुचि, भरि प्रवाह मे सुद्ध ॥ १६९ ॥

---

१ स्वाभाविक धर्म । २ छाछ, मठा । ३ चाण्डाल, डोम, मेहतर ।

बड़े होय अघ जुक्तहू, लखियं अनघ सदैव ।
अपनी सुधरे धर्म बल, उनकी जानै दैव ॥ १७० ॥

जिनको निज सों उच्च पद, जिमि पितु गुरु सुर पर्व ।
सदा आदरहिं तिनहिं बुध, गुनि तामे सुख सर्व ॥ १७१ ॥

भयत्राता पत्नी पिता, विद्याप्रद गुरु जौन ।
मंत्रदानि अरु असन्न प्रद, पंच पिता छितिरौन ॥१७२॥

तीन वरन को विप्र गुरु, द्विज गुरु अग्नि प्रमान ।
कामिनि को गुरु कन्त है, जग गुरु अतिथि सुजान ॥१७३॥

तियहि कन्त पुत्रहि पिता, शिष्यहि गुरू उदार ।
स्वामि सेवकहि देवता, यह श्रुति मत निर्धार ॥१७४॥

चलै रहिन लै धर्म को, सोई विद्यावन्त ।
जेहि हित अहित विवेक है, सो सुन्दर महिकन्त ॥१७५॥

करिये विद्यावन्त को, सेवन अरु सहवास ।
तासों आवहिं अमित गुन, अवगुन होहिं विनास ॥१७६॥

सतसंगत मे वास सों, अवगुनहूँ छिप जात ।
अहिर धाम मदिरा पिवै, दूध जानिये तात ॥१७७॥

असत संग में वास सों, गुन अवगुन ह्वै जाय ।
दूध पिवै कलवार घर, 'मदिरा सवहिं बुझाय ॥१७८॥

दुष्ट संग दुख सम गुनै, सुजन संग सुख इष्ट ।
पियै सिंधु जल जव तवहि, गुनै गङ्गजल मिष्ट[1] ॥१७९॥

---

[1] मीठा ।

वृथा होत कोउ काल नहिं, विद्या सेवन तात।
पर पाये जग दुख बजत, नतरु चतुर जग ख्यात ॥१८०॥
देश काल गुनि कै चलै, चतुर सोइ जग स्वच्छ[1]।
जुक्ति जुक्त रचना रचै, सो कवि मंडन[2] अच्छ ॥१८१॥
काव्य शास्त्र अभ्यास में, काल सुबुध को जात।
व्यसन लराई नींद मे, मूरख दिवस बितात ॥१८२॥

कुण्डलिया।

विधि सों कवि सब विधि बड़े, यामें संसय नाहिं।
षट रस विधि की सृष्टि मे, नव रस कविता माहिं।
नव रस कविता माहिं एक सों एक सुलच्छन।
गिरिधरदास विचार लेहु मन माहिं विचच्छन॥
काल कर्म अनुसार रचत विधि क्रम गहि सिधि सों।
कवि इच्छा अनुसार सृष्टि विरचत बर विधि सों ॥१८३॥

दोहा।

सुकवि भए पण्डित भए, कहन न जानी बात।
तै। सब पढ़िबो व्यर्थ है, ज्यों फागुन बरसात ॥१८४॥
बात समै की बरनिये, प्रगटत चित्त हुलास।
जैसे रुचत मलार अति, पावस[3] गिरिधरदास ॥१८५॥
बिना समय की बात सों, सोहति नेकहु नाहिं।
फागुन मास मलार जिमि, नहिं भावै मन माहिं ॥१८६॥

---

१ स्वच्छ, साफ़। २ भूषण। ३ वर्षा ऋतु, बरसात।

बात निकामहुँ लहि समय, सोहत लखहु बिचार ।
द्यूत दिवारी मध्य जिमि, जिमि होरी मधि गारि ॥१८७॥
भली बातहू बिन समय, नहिं सोहत निरिधार ।
जिमि विवाह मे बरनियै, ज्ञान कथा परकार ॥१८८॥

बनी बात बिगरै तुरत, बिगरी बनै न तात ।
काँच कलस फोरिय पटकि, पुनि न जुरै कोउ भाँति ॥१८९॥
पण्डित पासहु रहत पै, मूरख समुझत नाहिं ।
जिमि प्रभाव जानै नहीं, मीन गङ्ग जल माहिं ॥१९०॥

महि मे ऊसर व्यर्थ जिमि, तरु में रेंड प्रमान ।
पशु में व्यर्थ सियार जिमि, नर में मूर्ख अजान ॥१९१॥
कबहुँ नमै नहिं मूर्ख जन, नमत सुबुध अवतंस[1] ।
आम डार फल सह नमत, नमत न निष्फल वंस ॥१९२॥
बालू गृह सरितट बिटप[2], मूर्ख मित्रता जौन ।
ये इक दिन नाहीं अहैं, साँच सुनहु छितिरौन ॥१९३॥
मूरख जानै नेकु नहिं, अच्छर बिनु अविवेक ।
जिमि षट रस के स्वाद कों, कीस[3] न जानै नेक ॥१९४॥

बाद न कीजै मूर्ख सों, किये होत दुख भूरि[4] ।
नहीं होय सिद्धान्त कछु, जाय प्रतिष्ठा दूरि ॥१९५॥
जो मूरख निन्दा करै, पण्डित की नहिं हानि ।
रवि पै धूर उड़ाय है, परै अपुन सिर आनि ॥१९६॥

---

१ भूषण । २ वृक्ष । ३ बन्दर । ४ बहुत ।

भलो बुरी समुझै नहीं, मूरख मनुज महान।
ते नहिं बोलन जोग हैं, बोले सों कलकान[1] ॥ १९७ ॥
दुर्लभ है चोरहि दया, दुर्लभ अर्थिहि मान।
दुर्लभ बेस्यहि सील है, दुर्लभ मूर्खहि ज्ञान ॥ १९८ ॥
मूरख को सँग ना करै, करै सधै जो अर्थ।
पै सठ को सँग ना करै, बरु जावै असु व्यर्थ ॥ १९९ ॥
दुष्ट साधु सों होत है, साधु दुष्ट सों होत।
कस्यप-सुत कंचन कसिपु, तेहि प्रहलादउ होत ॥ २०० ॥
दुज हरखत मधुरहि निरखि, मोर मुदित घन पेखि।
सज्जन पर सुख लखि मुदित, दुर्जन पर दुख देखि ॥ २०१ ॥
जासु प्रकृति विधि जिमि रची, तिमि पावै सुख सोय।
गीध मृतक तन खात है, नहिं पाये दुख होय ॥ २०२ ॥
विद्या सम्पति जुक्तहू, तजै दुष्ट सहवास।
अहि[2] मनि जुक्तहु प्रानहर नहिं करिये विश्वास ॥ २०३ ॥
तजै दुष्ट नहिं दुष्टता, करो किती उपकार।
हवन करत कर दहत ज्यों, दहन[3] भूमि भरतार ॥ २०४ ॥
प्रान जाय तौ जाय पै, नहीं दुष्ट हठ जाय।
जरी परी रसरी तदपि ऐंठन प्रगट लखाय ॥ २०५ ॥
कढै तेल पाषाण सों फूल बेत के माहिं।
ऊसर मे अंकुर कढ़ै, पै खल मे बुधि नाहिं ॥ २०६ ॥

---

१ दुखी। २ साँप। ३ अग्नि।

धन फल क्रूपिनहिं होय नहीं, सुमन न अम्बर[1] माहिं।
अहि विख मन्त्र उतारिये, खल विख उतरै नाहिं ॥२०७॥
तन की औषध जगत में, खल की औषध नाहिं।
दूर होहिं सब ओपधी, परि कै खल के माहिं ॥ २०८॥
दूजे को उत्कर्ष नहिं, देखि सकत जग बीच।
पर निन्दा सुनि कै मुदित, सो पापी अति नीच ॥ २०९ ॥
करिय नीच सहवास नहिं, जे अघकाय[2] मलीन।
मति बिगरति आदर घटत, होत धरमरति छीन ॥ २१० ॥
सदा छली सों डरिय जिय, करिय नहो विश्वास।
ए सरवस मोचन करत, समय पाइ रहि पास ॥२११॥
गरुओ[3] गिरि ताते धरनि ताहू तें अघवन्त।
अघवन्तहु ते पिसुन[4] जेहि, धारत धरनि धसन्त ॥२१२॥
भागिनेय[5] जामात[6] अरु, व्याल[7] बिडाल[8] कुरूप।
नारि सुवन सह भिन्न गृह, नहि बिस्वासिय भूप ॥ २१३ ॥

कवित्त।

होय जो लजीलो ताहि मूरख बतावत हैं,
धर्म धरै ताहि कहैं दम्भ को बढ़ावत है।
चले जो पवित्रता सो कपटी कहत तैसे,
सूर कों कहत या मे दया को अभाव है ॥

---

१ आकाश। २ पापी। ३ भारी। ४ निन्दक। ५ भानजा, भगना। ६ जमाई, दामाद। ७ साँप। ८ बिलाव।

गिरिधरदास साधुताई देखि कहँ भूरत है,
उदर के हेत कियो भेख को बनाव है।
जे जे अहैं गुनि तिन्हैं औगुनी बखानैं यह,
जगत में पापिन को सहज सुभाव है॥ २१४॥

श्री रामचन्द्रजी का वनवास को चलना*

चौपाई।

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा।
मुदित मातु पद नायउ माथा॥
दीन्ह असीस लाय उर लीन्हें।
भूषण बसन निछावरि कीन्हें॥
वार वार मुख चूमति माता।
नयन नेह जल पुलकित[1] गाता॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये।
स्रवत प्रेमरस पयद[2] सुहाये॥
प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई।
रङ्क धनद[3] पदवी जनु पाई॥
सादर सुन्दर बदन निहारी।
बोली मधुर बचन महतारी॥

---

* तुलसीकृत रामायण से उद्धृत।

१ रोमांचित। २ स्तन। ३ कुबेर।

कहहु तात जननी बलिहारी।
कबहिं लगन मुद मङ्गलकारी॥
सुकृति सील सुख सींव सुहाई।
जन्मलाभ लहि अवधि अघाई॥

जेहि चाहत नर नारि सब, अति आरत इहि भाँति।
जिमि चातकि चातक तृषित, वृष्टि शरद ऋतु स्वांति॥१॥

चौपाई।

तात जाउँ बलि वेग अन्हाहू।
जो मनभाव मधुर कछु खाहू॥
पितु समीप तब जायहु भैया।
भइ बड़ि बेर जाय बलि मैया॥
मातु वचन सुनि अति अनुकूला।
जनु सनेह सुरतरु[1] के फूला॥
सुख मकरन्द[2] भरे श्रिय मूला।
निरखि राममन भँवर न भूला॥
धर्म्मधुरीन[3] धर्म्मगति जानी।
कहेउ मातु सन अतिमृदु बानी॥
पिता दीन मोहिं कानन-राजू।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

---

१ स्नेहरूपी कल्पवृक्ष। २ आनन्दरूपी रस। ३ धर्म्म का भार उठाने वाले।

आयसु[1] देहु मुदित मन माता।
जेहि मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह वस डरपसि भोरे।
आनँद मातु अनुग्रह तोरे॥

दोहा।

बरस चारिदस बिपिन बस, करि पितु बचन प्रमान।
आय पाय पुनि देखिहौं, मन जनि करसि मलान[2] ॥२॥

चौपाई।

बचन विनीत मधुर रघुबर के।
सर सम लगे मातु उर करके॥
सहमि सूखि सुनि सीतल बानी।
जिमि जवास[3] पर पावस पानी॥
कहि न जाय कछु हृदय विषादू।
मनहुँ मृगी सुनि केहरि[4] नादू॥
नयन सजल तनु थर थर काँपी।
माँजा[5] मनहुँ मीन कहँ व्यापी॥
धरि धीरज सुत बदन निहारी।
गद गद बचन कहति महतारी॥
तात पितुहिं तुम प्रानपियारे।
देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥

---

१ आज्ञा। २ उदास। ३ जवासा। ४ सिंह। ५ वर्षा के नये जल क फेन जिसके विकार से मछली को माँजा नाम रोग उत्पन्न होता है।

राउ देन कहँ सुभ दिन साधा ।
कहेउ जान वन केहि अपराधा ॥
तात सुनावहु मोहि निदानू ।
को दिनकरकुल[1] भयउ कृसानू ॥

दोहा ।

निरखि राम रुख सचिव सुत , कारन कहेउ बुझाय ।
सुनि प्रसङ्ग रहि मूक गति , दसा वरनि नहिं जाय ॥ ३ ॥

चौपाई ।

राखि न सकहि न कहि सक जाहू ।
दुहू भाँति उर दारुन दाहू ॥
लिखत सुधाकर[2] लिखगा राहू ।
विधि गति वाम सदा सब काहू ।
धर्म्म सनेह उभय मति घेरी ।
भइ गति साँप छछूँदरि केरी ॥
राखौं सुतहि करौं अनुरोधू ।
धर्म्म जाय अरु बंधु विरोधू ॥
कहौं जान वन तौ वड़ि हानी ॥
संकट सोच विकल भइ रानी ॥
बहुरि समुझि तिय धर्म सयानी ।
राम भरत दोउ सुत सम जानी ॥

---

१ सूर्य्य वंश । २ चन्द्रमा ।

सरल सुभाव राम महतारी ।
बोली वचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका
पितु आयसु सब धर्म्मक टीका ॥

दोहा ।

राज देन कह दीन्ह वन, मोहिं न दुख लवलेस ।
तुम बिनु भरतहिं भूपतिहिं, प्रजहि प्रचण्ड कलेस ॥४॥

चौपाई ।

जौ केवल पितु आयसु ताता ।
तौ जनि जाहु जाइ बलि माता ॥
जौ पितु मातु कहेउ वन जाना ।
तौ कानन सत अवध समाना ॥
पितु बनदेव मातु वन देवी ।
खग मृग चरण सरोरुह[1] सेवी ॥
अन्तहु उचित नृपहि बनवासू ।
वय[2] बिलोकि हिय होत हरासू ॥
बड़भागी वन अवध अभागी ।
जो रघुवंशतिलक तुम त्यागी ॥
जौ सुत कहौ संग मोहि लेहू ।
तुम्हरे हृदय होहि संदेहू ॥

---

१ कमल । २ अवस्था ।

पूत परम प्रिय तुम सबही के ।
प्रान प्रान के जीवन[1] जीके ॥
ते तुम कहहु मातु बन जाऊँ ।
मैं सुनि वचन बैठि पछिताऊँ ॥

दोहा ।

यह विचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढाइ ।
मानि मातु के नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ ॥ ५ ॥

चौपाई ।

देव पितर सब तुमहिं गुसाईं ।
राखहु पलक नयन की नाईं ॥
अवधि अम्बु[2] प्रिय परिजन मीना ।
तुम करुना कर धरम धुरीना ॥
अस विचारि सोइ करहु उपाई ।
सबहि जियत जेहि भेटहु आई ॥
जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ ।
करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥
सब करि आज सुकृतफल बीता ।
भयउ कराल[3] काल बिपरीता ॥
बहु विधि बिलपि चरण लपटानी ।
परम अभागिनि आपुहिं जानी ॥

---

१ जल । २ जल । ३ भयानक ।

दारुन दुसह दाह उर व्यापा ।
बरनि न जाय विलाप कलापा ॥
राम उठाइ मातु उर लाई ।
कहि मृदु वचन वहुरि समुझाई ॥

दोहा ।

समाचार तेहि समय सुनि , सीय उठी अकुलाइ ।
जाइ सास पद कमल युग , बन्दि वैठि सिर नाइ ॥ ६ ॥

चौपाई ।

दीन्ह असीस सास मृदुबानी ।
अति सुकुमारि देखि अकुलानी ॥
वैठि नमित मुख सोचति सीता ।
रूपरासि पति प्रेम पुनीता ॥
चलन चहत वन जीवन नाथा ।
कवन सुकृत सन होइहि साथा ॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना ।
विधि करतब कछु जाइ न जाना ॥
चारु चरननख लेखति धरनी[1] ।
नूपुर[2] मुखर[3] मधुर कवि बरनी ॥
मनहुँ प्रेम वस विनती करहीं ।
हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं ॥

---

१ पृथ्वी । २ पाजेब । ३ शब्द ।

मंजु[1] बिलोचन मोचति बारी[2]।
बोली देखि राम महतारी॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।
सास ससुर परिजनहिं पियारी॥

दोहा।

पिता जनक भूपालमनि, ससुर भानुकुल भानु।
पति रविकुल कैरव[3] विपिन, विधु[4] गुनरूप निधान॥ ७॥

चौपाई।

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।
रूपरासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि इव प्रीति बढ़ाई।
राखेउँ प्राण जानकिहिं लाई॥
कल्पबेलि[5] जिमि बहु विधि लाली।
सींच सनेह सलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ विधि बामा।
जानि न जाइ काह परिनामा॥
पलँग पीठ तज गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनमूरि जिमि जुगवति रहेऊं।
दीप बाति नहिं टारन कहेऊं॥

---

१ सुन्दर। २ जल। ३ कमलिनी। ४ चन्द्रमा। ५ कल्पवृक्ष की लता।

सो सिय चलन चहति बन साथा।
आयसु काह होइ रघुनाथा॥
चन्द किरन रस रसिक चकोरी।
रवि रुख नयन सकै किमि जोरी॥

दोहा।

करि केहरि निसिचर चरहि, दुष्ट जन्तु बन भूरि।
विष वाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवन मूरि॥ ८॥

चौपाई।

बनहित कोल[1] किरात[2] किसोरी।
रची विरंचि विषय सुख भोरी॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ।
तिनहि कलेश न कानन काऊ॥
कै तापस-तिय कानन योगू।
जिन तपहेतु तजा सब भोगू॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती।
चित्र लिखित कपि देखि डराती॥
सुरसरि सुभग बनज बनचारी।
डावर[3] जोग कि हंसकुमारी॥
अस विचारि जस आयसु होई।
मैं सिख देउँ जानकिहिं सोई।

---

१ भील लोगों की एक विशेष जाति। २ जङ्गली मनुष्यों की एक विशेष जाति। ३ मैले से भरा हुआ गड़हा।

जौं सिय भवन रहै कह अम्बा ।
मो कहँ होइ बहुत अवलम्बा ॥
सुनि रघुवीर मातु प्रियबानी ।
सील सनेह सुधा जनु सानी ॥

दोहा ।

कहि प्रियवचन विवेकमय, कीन्ह मातु परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहिं, प्रगट विपिन गुण दोष ॥ ९ ॥

मातु समीप कहत सकुचाहीं ।
बोले समय समुझि मन माहीं ॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू ।
आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू ।
आपुन मोर नीक जौ चहहू ।
वचन हमार मानि घर रहहू ॥
आयसु मोर सासु सेवकाई ।
सब विधि भामिनि भवन भलाई ॥
इहितें अधिक धरम नहिं दूजा ।
सादर सासु ससुर पद पूजा ॥
जब जब मातु करहिं सुधि मोरी ।
होइहि प्रेम विकल मति भोरी ॥
तब तब तुम कहि कथा पुरानी ।
सुन्दरि समुझायहु मृदुबानी ॥

कहौं सुभाय सपथ सत मोहीं।
सुमुखि मातुहित राखौं तोहीं ॥

दोहा।

गुरुश्रुतिसम्मत धर्म्मफल, पाइय बिनहिं कलेस।
हठबस सब संकट सहे, गालव[1] नहुष[2] नरेस ॥ १० ॥

चौपाई।

मैं करि पुनि प्रमान पितुबानी।
वेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥
दिवस जात नहिं लागहि बारा।
सुन्दरि सिखवन सुनहु हमारा ॥
जौं हठ करहु प्रेमबस बामा।
तौ तुम दुख पाउब परिनामा ॥
कानन कठिन भयङ्कर भारी।
घोर घाम हिम[3] बारि बयारी ॥
कुस कण्टक मगु[4] कङ्कर नाना।
चलब पयादे बिनु पदत्राना ॥
चरणकमल मृदु मंजु तुम्हारे।
मारग अगम भूमिधर[5] भारे ॥
कन्दर खोह नदी नद नारे।
अगम अगाध न जाहिं निहारे ॥

---

१ एक ऋषि का नाम। २ एक राजा का नाम। ३ पाला, बर्फ़, शीत। ४ रास्ता। ५ पहाड़।

भालु बाघ वृक[1] केहरि नागा[2] ।
करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥

दोहा ।

भूमि सयन-वलकल[3] वसन, असन कन्द फल मूल ।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, समय समय अनुकूल ॥ ११ ॥

चौपाई ।

नर अहार रजनीचर करहीं ।
कपट वेष वन कोटिन फिरहीं ॥
लागै अति पहाड़ कर पानी ।
विपिन विपति नहिं जाइ बखानी ॥
व्याल[4] कराल विहग[5] वन घोरा ।
निसिचर निकर[6] नारि नर चोरा ॥
डरपहिं धीर गहन[7] सुधि आये ।
मृगलोचनि तुम भीरु सुभाये ॥
हंसगमनि तुम नहिं वन जोगू ।
सुनि अपजस मोहिं देइहिं लोगू ॥
मानस[8] सलिल सुधा प्रतिपाली ।
जिअइ कि लवनपयोधि[9] मराली[10]
नव रसाल[11] वन विहरन सीला ।
सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥

---

१ भेड़िया । २ हाथी । ३ वृक्ष की छाल । ४ साँप । ५ पक्षी । ६ राक्षसों का समूह । ७ वन । ८ मानसरोवर । ९ खारा समुद्र । १० हंसनी । ११ आम ।

रहहु भवन अस हृदय विचारी।
चन्द्रवदनि दुख कानन भारी॥

दोहा।

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होहि हित हानि॥१२॥

चौपाई।

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के।
लोचन नलिन भरे जल सिय के॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे।
चकइहिं सरद चाँदनी जैसे॥
उतर न आव विकल वैदेही।
तजन चहत मोहिं परम सनेही॥
बरबस रोकि विलोचन वारी।
धरि धीरज उर अवनि[1] कुमारी॥
लागि सासु पग कह कर[2] जोरी।
छमब मातु बड़ि अविनय[3] मोरी॥
दीन्ह प्रानपति मोहिं सिख सोई।
जेहि विधि मोर परम हित होई॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं।
पिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥

---

१ पृथ्वी। २ हाथ। ३ बेअदबी।

इहि विधि सिय सासुहिं समुझाई।
कहति पतिहिं बर विनय सुनाई॥

दोहा।

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल कुमुद[1] बिधु, सुरपुर नरक समान॥ १३॥

चौपाई।

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।
प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सुजन सहाई।
सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहिं तरनि[2] ते ताते॥
तनु धन धाम धरनि पुर राजू।
पति बिहीन सब सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषण भारू।
जमजातना[3] सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी।
तैसहिं नाथ पुरुष बिनु नारी॥

---

१ धौला कमल जो रात को खिलता और दिन को मुँद जाता है। २ सूर्य। ३ यमराज का दंड।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।
सरद बिमल बिधु बदन निहारे॥

दोहा।

खग मृग परिजन नगर बन, बलकल बिमल दुकूल[1]।
नाथ साथ सुर सदन सम, परनसाल[2] सुखमूल॥ १४॥

चौपाई।

बनदेवी बन देव उदारा।
करिहैं सासु ससुर सम चारा॥
कुश किसलय[3] साथरी[4] सुहाई।
प्रभु संग मञ्जु मनोज तुराई[5]॥
कन्द मूल फल अमिय अहारू।
अवध सहस सुख सरिस पहारू॥
छिन छिन प्रभु पद कमल विलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी[6]॥
बन दुख नाथ कहेउ बहुतेरे।
भय विषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना।
सब मिलि होइ न कृपानिधाना॥
अस जिय जानि सुजानसिरोमनि।
लेइय संग मोहिं छाड़िय जनि॥

---

१ दुपट्टा, ओढ़नी। २ पत्तों की कुटी। ३ पत्ते। ४ आसनी, चटाई
५ शय्या, तोशक। ६ चकई।

विनती बहुत करौं का स्वामी ।
करुनामय उर अन्तरजामी ॥

दोहा ।

राखिय अवध जौ अवधि लगि, रहत जानिये प्रान ।
दीनबन्धु सुन्दर सुखद, सील सनेह निधान ॥ १५ ॥

चौपाई ।

मोहिं संग चलत न होइहि हारी ।
छिन छिन चरनसरोज निहारी ॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं ।
मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं ।
करिहौं बायु मुदित मन माहीं ॥
श्रमकन सहित स्याम तनु देखे ।
कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी[1] ।
पाय पलोटिहि सब निशि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही ।
लागहिं ताप बयारि न मोहीं ॥
को प्रभु सँग मोहि चितवन हारा ।
सिंह बधुहिं जिमि ससक सियारा ॥

---

१ बिछाकर ।

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू ।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥

दोहा ।

ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जौं न हृदय बिलगान ।
तौ प्रभु बिषम वियोग दुख, सहिहैं पामर[1] प्रान ॥१६॥

चौपाई ।

अस कहि सीय बिकल भइ भारी ।
बचन वियोग न सकी सँभारी ॥
देखि दसा रघुपति जिय जाना ।
हठि राखे नहिं राखहि प्राना ॥
कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा ।
परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥
नहिं विषाद कर अवसर आजू ।
बेगि करहु बन गमन समाजू ॥
कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई ।
लगे मातु पद आशिष पाई ॥
बेगि प्रजा दुख मेटहु आई ।
जननी निठुर बिसरि जनि जाई ।
फिरहि दसा विधि बहुरि कि मोरी ।
देखिहौं नयन मनोहर जोरी ॥

---

१ नीच ।

सुदिन सुघरी तात कब होई।
जननी जियत बदन विधु जोई[1] ॥

दोहा।

बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।
कबहुं बुलाइ लगाइ उर, हरषि निरखिहौं गात ॥ १७ ॥

चौपाई।

लखि सनेह कातरि महतारी।
बचन न आव बिकल भइ भारी ॥
राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना।
समय सनेह न जाइ बखाना ॥
तब जानकी सासु पग लागी।
सुनिय मातु मैं परम अभागी ॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा।
मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ॥
तजब छोभ[2] जनि छाँड़िय छोहू[3]।
करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥
सुनि सिय वचन सासु अकुलानी।
दशा कवन विधि कहौं बखानी ॥
बारहिं बार लाइ उर लीन्ही।
धरि धीरज सिख आशिष दीन्ही ॥

---

१ देखकर। २ रोष, मोह। ३ सनेह, प्यार।

अचल होउ अहिवात[1] तुम्हारा।
जब लगि गङ्ग जमुन जल धारा॥

दोहा।

सीतहि सासु असीस सिख, दीन्ह अनेक प्रकार।
चली नाइ पदपदम सिर, अतिहित बारहिं बार॥ १८॥

चौपाई।

समाचार जब लछिमन पाये।
ब्याकुल बदन बिलखि उठि धाये॥
कम्प पुलक तनु नयन सनीरा।
गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढे।
मीन दीन जनु जल ते काढे॥
सोच हृदय बिधि काह निहारा।
सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥
मो कहँ कहा कहब रघुनाथा।
रखिहैं भवन कि लैहहिँ साथा॥
राम बिलोकि बन्धु कर जोरे।
देह गेह सब सन तृन तोरे॥
बोले बचन राम नयनागर[2]।
सील सनेह सरल सुख सागर॥

---

१ सुहाग, सौभाग्य। २ नीतिनिपुण।

तात प्रेम वस जनि कदराहू।
समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥

दोहा।

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन जन्म कर, नतरु[1] जन्म जग जाय॥ १९॥

चौपाई।

अस जिय जान सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीं।
राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं॥
मैं वन जाउँ तुमहिं लै साथा।
होइहि सब बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू।
सब कहँ परै दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
रहहु तात अस नीति बिचारी।
सुनत लषन भये व्याकुल भारी॥

---

१ नहीं तो।

सियरे बदन सूखि गये कैसे।
परसत तुहिन[1] तामरस[2] जैसे॥

दोहा।

उतर न आवत प्रेम बस, रहे चरण अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम, तजहु तो कहा बसाइ॥ ७०॥

चौपाई।

दीन्ह मोहिं सिख नीक गुसाईं।
लाग अगम आपनि कदराई॥
नरवर धीर धरम धुर धारी।
निगम[3] नीति के ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मन्दर मेरु कि लेइ मराला[4]॥
गुरु पितु मातु न जानौं काहू।
कहौ सुभाय नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीत निगम निज गाई॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी।
दीन बन्धु उर अन्तरजामी॥
धरम नीति उपदेसिय ताही।
कीरति भूति[5] सुगति प्रिय जाही॥

---

१ पाला। २ कमल। ३ वेद, शास्त्र। ४ हंस। ५ विभूति, सम्पत्ति।

मन क्रम बचन चरन रत होई ।
कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ॥

दोहा ।

करुनासिन्धु सुबन्धु के, सुनि मृदु बचन बिनीत ।
समुझाए उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥ २१ ॥

चौपाई ।

मांगहु बिदा मातु सन जाई ।
आवहु बेगि चलहु बन भाई ॥
मुदित भये सुनि रघुबर बानी ।
भयउ लाभ बड़ मिटी गलानी ॥
हर्षित हृदय मातु पहँ आये ।
मनहुँ अन्ध फिरि लोचन पाये ॥
जाइ जननि पग नायउ माथा ।
मन रघुनन्दन जानकि साथा ॥
पूछेउ मातु मलिन मन देखी ।
लखन कही सब कथा बिसेखी ॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा ।
मृगी देखि जनु दव[1] चहुँ ओरा ॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू ।
एहि सनेह बस करब अकाजू ॥

1 दावानल ।

मागत बिदा समय सकुचाहीं ।
जात संग बिधि[1] कहिहि कि नाहीं ॥

दोहा ।

समुझि सुमित्रा रामसिय , रूप सुशील सुभाव ।
नृप सनेह लखि धुनेउ सिर , पापिन कीन्ह कुदाव ॥२२॥

चौपाई ।

धीरज धरेउ कुअवसर जानी ।
सहज सुहृद बोली मृदु बानी ॥
तात तुम्हार मातु बैदेही ।
पिता राम सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू ।
तहाँ दिवस जहँ भानु प्रकासू ॥
जो पै सीय राम बन जाहीं ।
अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥
गुरु पितु मातु बन्धु सुर साईं ।
सेइय सकल प्रान की नाईं ॥
राम प्रान प्रिय जीवन जी के ।
स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते ।
मानिय सबहिं राम के नाते ॥

---

१ विधाता ।

असि जिय जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू।

दोहा।

भूरि भाग भाजन भयहु, मोहिं समेत बलि जाउँ।
जो तुम्हार मन छाँड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥ २३॥

चौपाई।

पुत्रवती जुवती जग सोई।
रघुपति भगत जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ बलि बादि बियानी।
राम बिमुख सुत ते हित हानी॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू।
राम सीय पद सहज सनेहू॥
राग रोष इरषा मद मोहू।
जनि सपनेहु इनके बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम कहँ बन सब भाँति सुपासू।
सँग पितु मातु राम सिय जासू॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू।
सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू॥

धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) तथा एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥ हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एकश्रुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं तुम (देवा• इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो, ऐसे करते हुए (व) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता ॥ २१ ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २२ ॥
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ २३ ॥ अथर्व० कां० १२ । सू० ५ । मं० १–३ ॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) सयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या, परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म में (श्रिता) चलनेहारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥ (सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृता) चारों ओर से युक्त, (श्रिया) शोभायुक्त लक्ष्मी से (प्रावृता) युक्त, (यशसा) कीर्त्ति और धन से (परीवृता) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥ (स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिता) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढा) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त कराने हारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ता) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या